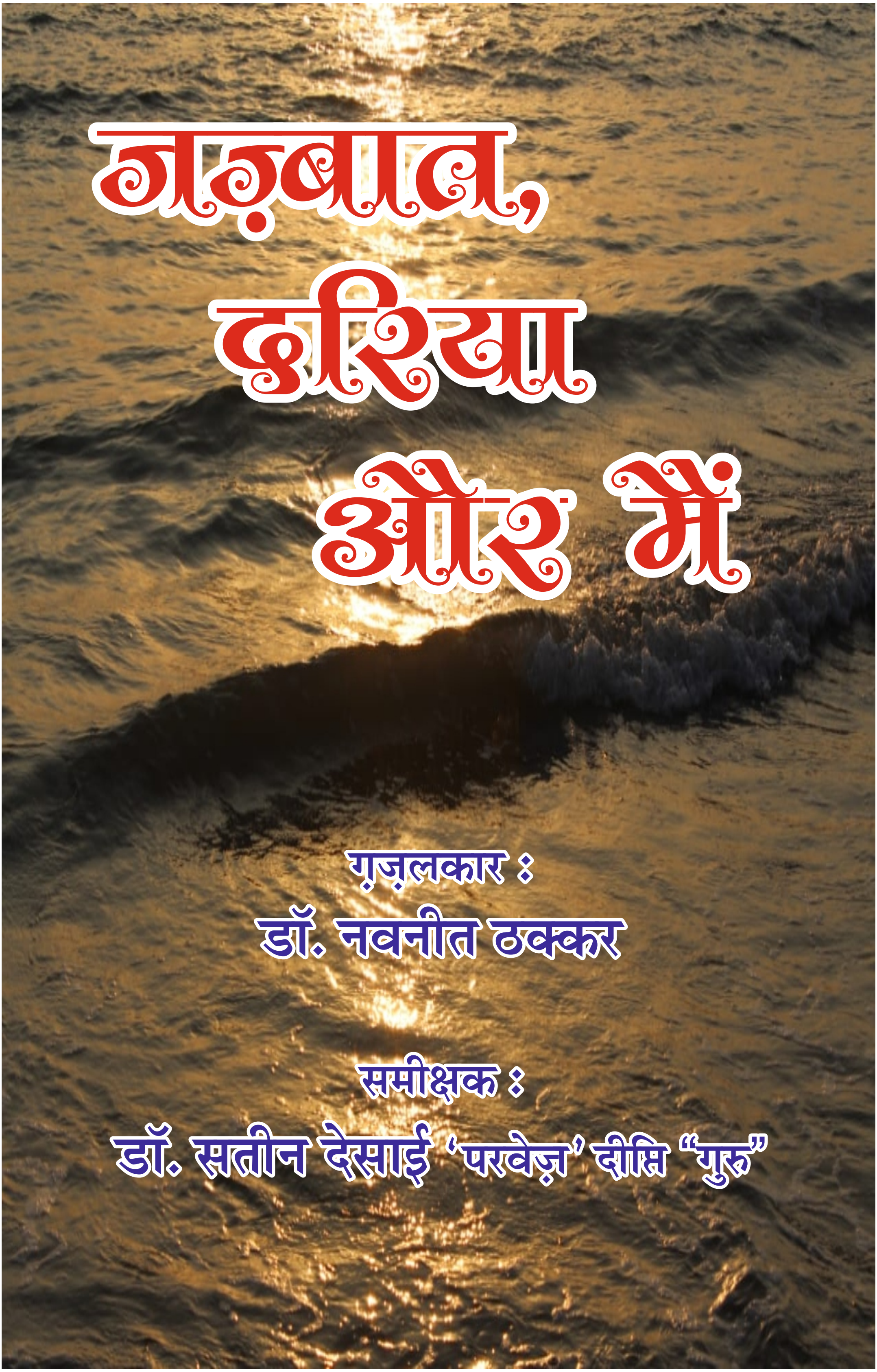

ग़ज़ल, दरिया और मैं

ग़ज़लकार :

डॉ. नवनीत ठक्कर

समीक्षक :

डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़' दीप्ति "गुरु"

जज़्बात, दरिया और मैं

डॉ. नवनीत ठक्कर के चुनंदा ग़ज़ल संग्रह की समीक्षा

ग़ज़लकार :

डॉ. नवनीत ठक्कर

समीक्षक :

डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़' दीप्ति ''गुरु''

प्रकाशक :

सेतु प्रकाशन

9, माधव पार्क विभाग - 2, माधव इन्टरनेशनल स्कूल के पास,
वस्त्राल रोड, वस्त्राल, अहमदाबाद - 382418

JAZBAT, DARIYA AUR MAIN

by : डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़'

© डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़'

© डॉ. नवनीत ठक्कर

प्रथम संस्करण : **October, 2021**

मूल्य : ₹ **150/-**

प्रकाशक :

सेतु प्रकाशन

9, माधव पार्क विभाग - **2,**
माधव इन्टरनेशनल स्कूल के पास,
वस्त्राल रोड, वस्त्राल, अहमदाबाद - **382418**
(M) 94276 22862

कम्प्यूटर टाईप-सेटिंग एन्ड ले-आउट :

फागुन ग्राफिक्स

48, पूर्वीनगर, घोडासर केनाल, भाडुआत नगर के पास,
घोडासर, अहमदाबाद - **380 050. (M) 98255 04661**
Email : fagungraphics@gmail.com

प्रिन्टर्स :

पार्थ ग्राफिक्स एन्ड प्रिन्टर्स

4-FF, श्रद्धा कोम्प्लेक्ष, गोविंदवाडी,
इसनपुर, अहमदाबाद

प्राप्तिस्थान :

डॉ. नीरव नवनीतभाई ठक्कर

5, 'मंगलमूर्ति', मोतीनगर, महालक्ष्मी चार रस्ता,
अहमदाबाद **- 380 007 (M) 98986 79494**

समर्पण

अहसास की बुलंदी हासिल हुई है जिनसे ।
जिनसे सुखन का यारो 'नवनीत' हमने पाया ।।

समीक्षात्मक अवलोकन

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की आधार भूमि है प्रेम, सहृदयता और लगाव । और यही गुण व्यक्ति को साहित्य के प्रति आकर्षित करते हैं । क्योंकि साहित्य में प्रेम, सहृदयता और लगाव ही भरा हुआ है। इनके बिना साहित्य अधूरा है । व्यक्ति समाज में जो कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है वही साहित्य में प्रतिबिंबित होता है । किसी भी समाज के साहित्य को पढ़कर उस समाज की प्रवृत्तियां उसकी गतिविधियां और उस समाज के मानव-जीवन के मूल्य एवं मानव-जीवन के जीने की कला के स्तर का पता लगाया जा सकता है । इसीलिए यह कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है साथ ही यह भी कह सकते हैं कि साहित्य के जरिए साहित्यकार की मानसिकता और उसके जीवन स्तर का भी पता लगाया जा सकता है।

ऐसे ही श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित और मूर्धन्य साहित्यकार हैं डॉ.नवनीत ठक्कर। आदरणीय नवनीत ठक्कर जी ने हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठता और स्तरीयता में चार चाँद लगा दिए हैं। गाँव से शहर तक की उनकी संघर्षमय जीवन गाथा बहुत रोमांचक और आश्चर्यजनक है । ठक्कर जी की जीवन गाथा यकीनन प्रोत्साहक है । एक लम्बे संघर्षमय जीवन में भी ठक्कर जी अनवरत रूप से एक साहसिक योद्धा की तरह बढ़ते रहे और जीवन में सफलता के नये शिखर पर पहुँचते रहे । मूलतः गुजराती भाषी होते हुए भी ठक्कर जी ने हिन्दी में श्रेष्ठतम रचनाओं और ग्रंथों का निर्माण करके हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है । यह हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि उसे ठक्कर जी जैसे श्रेष्ठ और मूर्धन्य साहित्यकार प्राप्त हुए। ठक्कर जी की सफलता के साथ-साथ उनकी हिन्दी रचनाओं से हिन्दी साहित्य की शोभा में भी अभिवृद्धि हुई है । हिन्दी साहित्य स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता है ।

ऐसे श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित साहित्यकार के श्रेष्ठ साहित्य की समीक्षा करना किसी मामूली व्यक्ति का काम नहीं है । इस तरह के साहित्य की समीक्षा वही कर सकता है जो उसके समकक्ष या उससे भी अधिक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित हो । इसीलिए डॉ.नवनीत ठक्कर जी के श्रेष्ठ साहित्य की समीक्षा की है डॉ.सतीन देसाई 'परवेज़' ने ।

डॉ. सतीन देसाई ' परवेज़ 'सर्वश्रेष्ठ, मूर्धन्य और प्रतिष्ठित साहित्यकारों में अग्रगण्य हैं । विश्व प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ.सतीन देसाई जी का ठक्कर जी के साहित्य पर समीक्षात्मक टिप्पणी करना स्वयं में अत्यंत गौरवपूर्ण विषय है । आदरणीय डॉ.सतीन देसाई जी के परिचय में उनकी विशेषता में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के बराबर है । डॉ.सतीन देसाई द्वारा समीक्षा होने का अर्थ है कि वह साहित्य अपने आप में सर्वश्रेष्ठ है । डॉ.सतीन देसाई जी का परिचय देखकर ही उनके विशाल, अद्वितीय साहित्य संसार से हर कोई अभिभूत हो जाता है ।

ऐसे श्रेष्ठ रचनाकार की अद्भुत रचनाओं पर सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार और अद्वितीय समीक्षक डॉ.सतीन देसाई जी की समीक्षा को पढने का आनन्द बेमिसाल है । मुझे इस लाजवाब समीक्षा ग्रंथ पर लिखने का मौका मिला इसके लिए मैं आदरणीय डॉ.सतीन देसाई जी का हृदयतल से आभार ज्ञापित करता हूँ । मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी साहित्य में इस ग्रंथ का स्वागत होगा और यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य में अपना स्थान कायम कर सकेगा ।

– विजय तिवारी

संस्थापक एवं अध्यक्ष

●साहित्य सेतु परिषद (रजि.) राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत ।

●विश्व हिन्दी साहित्य संस्थान । (यु-ट्यूब चैनल)

●http://vtlibrary.com विश्व का सर्वप्रथम वेब पुस्तकालय ।

१

डॉ. नवनीत भाई ठक्कर के प्रथम काव्य संग्रह ''स्याही भीगे पल'' का अवलोकन ।

जब भीतर की अनुभूतियां भावशिल्प करने अपना लहू निचोडके जीवन के काग़ज़ पे झरती हैं । तब जीवन का वो कोरा काग़ज़ स्याही भीगा हो जाता है । जिसमें रफ्ता-रफ्ता वक़्त का समंदर भी स्याही भीगी मौजों में पल-पल बहने लगता है । एक ऐसा पल आखिरकार उसके भीतर से उभर आता है, जिसमें उसकी सारी रवां-दवां लहरें ठहर जाती हैं । तब उसकी सब उफनती तंगदिलियां भी मिट जाती हैं । और ऐसी बेअसर तनहाइयाँ पैदा होती हैं! जिनकी गहरी समाधियों में नवनीत ठक्कर नामक सर्जक अपनी मौन सर्जन लीला में लीन हो जाते हैं । यही तो कुदरत की करिश्माई है । जो कवि को अपने सर्जन सार के बारे में ये मंत्रोच्चार कराती है ।

"मिली हर तंग लम्हों में मुझे तनहाइयाँ ऐसी,
हुआ कुछ बेअसर वक्त-ए- समंदर का उछलना भी ।''

"स्याही मीगे पल" में अपनी भावोक्ति की भूमिका निभाते हुए उपरोक्त शेर कवि पढ़ रहे हैं । यह कवि जो कि अपने सादा मिजाज और हक बयानी से काव्यविश्व में अपना पडकार देते आये हैं । उनके सर्जन के बारे में हर हाल जो जज्बात बहे हैं । वे उन्हीं के ही शब्दों में सरापा मैं कहता हूँ ।

"मेरी सीमा- न मैं सिद्धहस्त रचनाकार हूँ, न ही सशक्त कवि होने का मेरा दावा है । काव्य शास्त्र के कठिन कायदे मेरे पल्ले नहीं पडे हैं । इस संग्रह में जो भी प्रस्तुत है । इसे मैंने अपने मन-स्तन प्रदेश से मां के दूध की तरह, बेशक बहने दिया है । सहृदयी उसे इसी रूप से देखेंगे, पढ़ेंगे और स्वीकार कर कृतार्थ करेंगे, तो मेरे हौसलों को हवा मिलेगी ।''

आप अनुभूत कर सकते हैं कि अपनी सर्जनी के बारे में कवि की उपरोक्त आत्मानुभूति सपाट नहीं लेकिन अपनी नैसर्गिक रवानी में कलकल

बह रही हैं । नवनीत जी का गद्य ही जब हमें बहा ले जाता हो । तो उनके पद्य के बारे में तो हमें क्या आशंका हो सकती है । जो कविता को मन-तन प्रदेश के दूध स्त्राव-सा ही रूप देते हो । उनपे मां सरस्वती की कैसी-कैसी कृपा रही होगी । वो हम इनकी कविताओं के रस दर्शन में देखेंगे । फिलहाल मैं उन्हें उन्हीं के मिज़ाज के दो मेरे शेर अर्ज कर रहा हूं ।

''मुझे क्यूँ पूछता है झील क्या है? ये कंवल क्या है?
मैं परवत हूँ मुझे मालूम है मेरा बदल क्या है?
मैं मां के सीने से टपका हुआ इक दूध का कतरा,
मुझे पी ले, समझ आ जाएगा, रंग-ए-ग़ज़ल क्या है?''
- डॉ. सतीन देसाई परवेज़ दीप्ति ''गुरु''

कवि ने अपनी आत्मोक्ति में जो कहा है उसीको अपने नोखे अंदाज़ में इस संग्रह के मुख्य प्रस्तावक प्रसिद्ध कवि द्वारिका प्रसाद सांचिहर जी ने बिंबाया है । उनके कहन के मुताबिक ''रचनाकार समय की तंगदस्ती से वह लम्हा चुरा ही लेना चाहता है जिसमें उसका ''स्व'' स्याहीपुते परिवेश के बीच सर्वानुभूति की चमक-दमक से आलोकित हो जगमगा उठे । तंग आते-जाते लम्हों के बीच पारदर्शी तन्हाई वो दरिचा है, ज़हाँ से उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति लबालब बह निकलती हैं । फनकार की तनहाइयाँ हर लम्हे आईने के सामने उरियां अर्थात् नंगी होती हैं । और वही उसे जिलाती हैं ।''

द्वारका प्रसाद जी की इस फनकाराना आइनासाजी को ही अपने रूप में बिंबित करता ''स्याही भीगे पल'' का यह पहला नजराना आपकी खिदमत में पेश कर रहा हूँ मैं ।

''हू-ब-हू तसवीर मेरी ना दिखाई है,
आईने ने बेरूखी कैसी निभाई है । पेज १५

आईने की मिसाल ज़िंदगी के लिए जितनी आम है, उतनी ही अहम भी है । जितनी अहम है उतनी ही ग़ज़ल की मीनाकारी के लिए भी आवश्यक है । जियादातर आईने का इस्तेमाल किसी रूप-स्वरूप को दिखलाने

सकारात्मक या नकारात्मक तरीके से ग़ज़ल में होता है । यह कवि हमारे आगे उपरोक्त शेर में बिंब दिखलानेवाला आईना नहीं, बल्कि नक्श निगारी करनेवाले कोई चित्रकार के ही रूप में आईना प्रयुक्त कर, हम सब को ग़ज़ल का नया आयाम देकर, चौंका रहे हैं । यह कहकर..

''हू-ब-हू तसवीर मेरी ना दिखाई है ।''
आईने ने ये कैसी बेरूखी निभाई है''

हमारे कवि राज की तसवीर जो भीतर लगी हुई थी! उसपे भी पर्दा करके आईने ने फनकार को बेचैन कर दिया । यह बेरूखी के जराए आईने के सजीवारोपण से कवि उनकी ज़िंदगी की तंगदिलियां की और हमें खींच ले जा रहे है । यह कवि जिन्होंने ताउम्र ऐसी विकट अवस्थाओं के सामने झूझकर बेमिसालाना टक्करें ली हैं । उन्होंने वाक़ई अपनी ठक्करियत को रौशन किया है । आईने की एक और ऐसी भी प्रयुक्ति उन्होंने की है । जिसमें आईना अर्थात् शख्सियत दिखाने वाली शै की बेवफाई पर उन्होंने हर तरह से फिटकार भी किया है । चलो, उस तसव्वुर से आंख मिलायें ।

''आईना तौहीन की हद तोड बैठा कल,
रूप का दरिया पलट वीरां बना क्योंकि ।'' पेज २४

आईना भी इंसान की मानिन्द तौहीन की अनहदों पे उतर आकर रूप के दरियाओं को भी सहराई वीरानी सूरत में पलट रहा है । यह तसव्वुर इन्सानी तहजीब की तौहीन का कलियुगी अंजाम है ।

नवनीत जी वह शायर नहीं है जो इक शायर के इस शेर की तरह ज़िंदगी की कशाकश से तंग आकर आलम को ठुकराने के लिए मजबूर हो जायें । बजाए उसके उन्होंने हरेक पल को स्याही में भीगो कर, महोब्बत का पैगाम दिया है ।

''तंग आ चुके हैं कशमकश-ए-ज़िंदगी से हम ।
ठुकरा न दे ज़हाँ को कहीं बेदिली से हम!''

- जिगर मुरादाबादी

इसी लिए तो यह शायर अपनी इसी ग़ज़ल में इक नयी तरोताज़ा सुबह को जगाने और ज़हाँ को मुनव्वर कर, नये आलम को सजाने दरअसल निम्न शेर से इस्तकबाल कर रहे हैं ।

''हो गया है वक्त सुबह को जगाने का,
ख्वाब की लौ भला फिर क्यों जलाई है ।'' पेज १५

शायर वैसे तो जाहिराना तौर पे नींद में आते ख्वाब की बात इस शेर में करते दिखाई देते हैं । लेकिन अगर गहरे नजरिये से देखा जाए तो वे उस बेहिस और बेजान ख्वाब की और ही इशारा करते हैं । जो इन्सान ताउम्र देखकर उसकी नाकामयाबी के असर में मायूस रह कर, दिन को भी रात के रूप में परिवर्तित कर, अंधेरों का शिकार हो जाता है ।

भक्त कवि मीरां ने तो ज़हर का पियाला पी कर चमत्कार दिखाएं! वो तो होना ही था । क्योंकि वह कृष्ण भक्त थी । सो वह उसके वरदान से उपकृत थी । लेकिन नवनीत भाई ब्रज के नवनीत होने के बावजूद भी तमाम उम्र गमों की तल्खियां लबालब भरभर पीते रहें । बाइस इसीके ही वह गमों के हरेक पहलू को अपनी कविताओं में उजागर करने को काबिल रहे हैं । गम के मुताबिक कही गई प्रथम दो कविताएँ एक नज्म और दूसरी ग़ज़ल के तत्वावधान पर रोशनी डाल रहा हूँ ।

''गम के बिना ज़िंदगानी नहीं है ।
गम के बिना कोई ज्ञानी नहीं है ।
गम साज को, तर्ज़ गम को भुला दे,
गम के बिना कोई ध्यानी नहीं हैं ।
गम की सहर व्यंध्य-फानी नहीं है ।
गम के बिना तर जवानी नहीं है ।
गम के बिना आग-पानी नहीं है ।
गम के बिना तो कहानी नहीं है ।
गम ही हमें बंदगी भी सिखा दे ।
गम आदमी को फरिश्ता बना दे ।
गम के बिना शय नूरानी नहीं है । पेज १३

"गम के बिना" के पुनरावर्तित श्लेष में रटा गया यह चार-चार पंक्तियों के सात श्लोक हमें मानो गीता के अध्याय का ही रसदर्शन न कराते हो । वही अंतर अनुभूति होती है । यहां बहर के लिहाज से अगर देखा जाए तो इस नज़्म में "लगागा" के चार आवर्तन होने चाहिए । शायर ने इसके बदले "लगागा" के प्रथम "ल" वर्ण को न प्रयुक्त कर ही नये अंदाज से इसको साकार किया है ।

वैसे भी ज़िंदगी से लेकर बंदगी तक की परिक्रमा में अलावा गम के भक्तिमंत्र के हम जाप भी क्या कर सकते हैं । गम ही तो एक प्राणवर्धक अहसास है जो हमें ध्यानी कर ज्ञानी करता है । हमारी ज़िंदगी की हर शै को नूरानी करके नायाब ज़िंदगानी की स्याही भीगे पल में कहानी लिखता है । यहां कवि गम को मिर्ज़ा गालिब की तरह खयाली तौर पे कहाँ झेलते हैं । जैसे गालिब फर्माते हैं कि -

"मुश्किलें हम पे पडीं इतनी की आसां हो गईं"

यह शायर तो गमों के ही दो ज़हाँ की बादशाहत का दबदबा हर तरीके से भुगतते हैं । इसलिए वह अपनी दूसरी ग़ज़ल में परसंवादिता के जरिए गम के इम्तिहानों से गुजर फत्तह का परचम लहराने का हमें आदेश देते हैं ।

"गम की सहर-जां पुरानी नहीं है,
चलो, अब गमों का सदा इम्तिहां दे ।
गम के बिना ज़िंदगी का मजा क्या?
चलो, अब गमों को नया हौसला दे ।" पेज १४

गमों से भयभीत जगत में ऐसा कौन-सा शख्स है । जो गमों को नया हौसला देना चाहता हो! शायर को तो गम की ही गर्त समाधि में रहकर गमों की परवरिश करने का इन्तहाई हौसला है । वही तो हम सब में एक किसम का आश्चर्य पैदा करता है । जो हमें नवनीत जी के काव्य की गहराइयों में गोताजनी करने को मजबूर कर देता है ।

शायर बुनियादी तौर पे रिवायती रवैया अपनाते हैं । ऐसा महसूस होता

है कि उनपर पिछले दौर के उर्दू शायरों का काफी असर पडा है । एक शेर इसके सुबूत में पेश करने की इजाजत चाहता हूँ ।

''हुआ करती हैं दुश्वारी ही से आसानियां पैदा,
बडे नादान है मुश्किल को जो मुश्किल समझते हैं ।
- अलम मुजफ्फर नगरी

गम को सरापा असल रूप ही में सींचने वाले यह नादान नहीं पर संजीदा शायर मुडदा लोग और उनकी बस्तियों को देखकर मायूसी को ओढ़ यह शेर कहते हैं ।

''ना कोई ज़िंदा मगर सब जी रहे हैं,
गम के ओले हसरतों में पी रहे हैं । पेज १६

अपनी नाकाम मनहूस ख्वाहिशें गम के ओलों के सिवा और क्या पीला भी सकती हैं? इसी ग़ज़ल का एक शेर जो मज़हबी चाल में फंसी दुनिया को नसीहती आईना दिखा रहा है । वह पेश कर रहा हूँ ।

''किस तरह मज़हब मिले सबके गले?
कोई मोमिन ना कोई गाज़ी रहे हैं ।'' पेज १६

मोमिन और गाज़ी यानि बहादूर जैसे उर्दू लफ्ज़ प्रयुक कर कवि अपने पर सवार आजसे चालीस साल पहले की अहमदाबाद के काव्य फन की फजाओं की बहारें ला रहे हैं । उनकी सोहबतें न सिर्फ साहित्य लोक परिवार के नामी-अनामी शोहराओं से रही होगीं, लेकिन उन्होंने यकीनन उर्दू शायरों से भी अपना मेलजोल बनाये रक्खा होगा । जो असर इनके कलाम में साफ नजर आता है । यहाँ जब दर्द ओ गम की आयातें लिक्खी जा रही हैं । यह मुनासिब होगा कि एक और मंत्र जनाब जांनिसार अख्तर का दर्द के सिलसिले में पिरोया जाए ।

''अब ये भी नहीं ठीक कि हर दर्द मिटा दे,
कुछ दर्द कलेजे से लगाने के लिए हैं ।''
- जांनिसार अख्तर

ज़िंदगी की तल्खियों ने उन्हें उस हद तक धकेला है कि उनको तमामतर शख्स में बेहिसी, यानि कि मौत ही नजर आती होगी । वर्ना ऐसे शेर वह क्यों कहते ।

''मौत की आगोश में सब हैं यहाँ,
कौन अपने-आप ज़िंदा है यहाँ?
गल रही तारीखियां मिलकर गले,
पर खड़ा लम्हा ही तन्हा है यहाँ ।
यूं तो नस्लों की फसल बढ़ती रही,
अब नजर आता न इनसां है यहाँ ।'' पेज १७

कवि का भाषावैभव काबिल-ए-दाद है । वे और कविओं की तरह सदी के सामने केवल लम्हे के विरोधाभास को रखकर शेर नहीं कहते! बल्कि उनकी शेरियत का व्याकरण हमें हैरत अंगेज कर देता है ।

मिसाल के तौर पर उनका यह कहन **''गल रहीं तारीख़ियां मिल कर गले''** ''तारीखियां'' कहकर बहुवाची इतिहास को गलानेवाला यह शायर कहते है कि तन्हा मुस्तकील लम्हे के आगे इतिहास की क्या मजाल हो सकती है । शायर कबीरी सूरत ही में सूक्ष्म में विराट दर्शना कराने के काबिल इसी वजह से है कि उनकी बुलंद तर सोच भी मिर्ज़ा गालिब के करीबतर तवाफ कर सकती है । मिर्ज़ा का ही यह मानी उन्होंने अपने आखिरी शेर में खोला है ।

''आदमी को मयसर नहीं इन्सां होना''

ज़िंदगी के हरेक पहलू को तलाशकर तराशने वाले यह शायर जबकि मौत की आगोश में सब को सोते हुए पाते हैं । तो दूसरी और मौत की आगोश को अंजाम देने वाले दो तत्व, ज़िंदगी की धूप और इंसान की गलत ख़्वाहिशों को भी आमने-सामने रख कर अस्तित्व के वास्तव वाद को इस तरह उजागर करते हैं ।

''धूप शोले बन पली आगोश में,
हर तमन्ना ख्वाब में गलती रही ।'' पेज १८

इससे पहले सनातन प्रतीक तारीख को गलानेवाले यह शायर यहां हमारी तमन्नायुक्त इंद्रियों को जलाकर गला रहे हैं ।

वैसे हर लम्हा हर शै पिघलने को ही तो पैदा हुई है । दुर्भाग्यवश धूप की आगोश से किसीको भी यहाँ मुक्ति कहां है । इसीलिए तो उर्दू के फिल्मी शायर निदा फाजली ज़िंदगी के सफर के बारे में यूं फर्माते हैं ।

''सफर में धूप तो होगी, जो चल सको तो चलो ।
बने-बनाये है सांचे, जो ढ़ल सको तो ढ़लो ।''

- निदा फाजली

यह कवि समस्त के रहस्य का राजदां होने के बावजूद वास्तविक अवतार कर्म के मंजर भी प्रवाहित रूप में क्रियापदी व्याकरण की ध्वनि से किस तरह पैदा करते हैं । उस पर भी इक नजर डाल के हम यहाँ रूक के देखें ।

जो टूटे, फेंके, नये आते गये ।
महफ़िलें बस इस तरह चलती रहीं । पेज १८

बनाम -महफिल शायर इस फानी दुनिया के रोजमर्रे का चित्रण करते हैं । टूटना तो हर लम्हे के साथ जुडा हुआ है । लेकिन फेंकना वो व्यक्ति की क्रिया की निपज है । तत्व से व्यक्ति का ये विसर्जन दर्शन कवि करके हमें अवतार बोध देते हैं । इक स्वरूप मिटकर दूजे स्वरूप में उतर आता है । इसीका नाम ही तो है ये मायावी दुनियावी महफ़िल ।

सब कुछ मिट सूख जाये, पर इस शायर के ''स्याही भीगे पल'' हर हमेशा भावनाओं से भीगे-भीगे ही मिलेंगे । शायर भले वास्तविक ज़हर को पीते हो । या उसके नक्श दूसरों में काव्यात्मक स्वरूप से बनाते हो । वे भले शिकायती तौर अपनाके गुफ्तगूएं भी करते हो । दरअसल उनका रवैया सदा ही सकारात्मक ही रहा है । जिसकी हमें पहचान यह निम्न शेर करा रहा है ।

''बात इतनी-सी हकीकत है मगर फिर भी,
ना कभी हमने ज़हर विष में मिलाया है ।

यूं तो वर्षों की लकीरें मिट गईं लेकिन,
एक लम्हे ने हमें कितना जिलाया है ।'' पेज २३

एकबार फिर से हम उनकी भाषा व्यंजना पर गौर फर्माये । उपरोक्त पहले शेर का सानी मिसरा विष और ज़हर दो हममानी शब्द को दोहराके प्रथम दृष्टि से, पुनरोक्ति दोष पैदा कर रहा है । ऐसा महसूस होता है । लेकिन यह समर्थ कवि ज़हर और विष को अलग कर यह साबित करना चाहते हैं कि हमने ऐसा कोई भी विषयुक्त कर्म किसीके लिए नहीं किया जो उसकी ज़हरीली भावनाओं को पोषित करें । यही सत्कर्मीता की वजह से उनके एक मात्र ''स्याही भीगे पल'' ने उनको सदीओं पर्यंत जिलाया है।

कोई भी शायर अपनी दीवानगी की वज्द में आकर ही अपनी अनुभूतियों की तसवीर ''स्याही से भीगे पल'' पे खींच सकता है । इसी धाराओं में बहकर यह शायर ने दिवानगी शीर्षकस्थ ग़ज़ल में लम्हों की स्याही को किस तरह से लाफानी ग्रंथ का रूप दिया है । उसकी बेमिसाल तरकीब को हम भी आजमाने तैयार हो जायें ।

''हमारी मुफलिसी को ना समझना भीख के काबिल,
मिली गर भूख तो उसको भी रोज़ा-ग्रस्त कर देंगे ।
मरी तारीखियां की जाल बुनना छोडके बिस्मिल,
चहकते चार लम्हों को पूरे कंठस्थ कर देंगे
नहीं लिखा कभी भी रोशनी के दाव में आकर,
अगर सिसकी स्याही तो उसे ग्रंथस्थ कर देंगे ।'' पेज २५

हिन्दोस्तानी जबान में ग़ज़ल को नूरानी करने वाले शायरों की तादाद कम तो नहीं है । लेकिन हिन्दोस्तानी ग़ज़ल के लहजे में रोज़ा ग्रस्त काफिये का इस्तेमाल पहली बार नजर आया है । ये काफिया नव्य आयामित होकर ग़ज़ल को और जियादा अलंकृत कर रहा है । रोज़ा उर्दू लफ्ज़ के साथ ग्रस्त हिन्दी शब्द समासित करके शायरने दो जबान की मीठास को बढ़ाया है ।। खुद परस्ती नहीं पर खुद्दारी परस्त यह मुफलिस शायर भूख को रोज़ा ग्रस्त कर उसे भक्ति का स्वरूप दे सकते है । तो उससे भी बढ़कर वह तारीख

अर्थात् इतिहास को मरा ही मानकर उसकी बंदिशों में कैद हो गुलाम होने के बजाय चहकते परिन्दों की मानिन्द मस्तीयों में चहचहाते भीगे सुरीले चार लम्हों के ही उम्रे तमाम गीत गाने को ही राजी है ।

नवनीत जी किसी वक्त, किसी भी दौर में शोहरत की चकाचौंध में अंधे होकर उसके पीछे भागे कहाँ हैं । वे तो आंखे मूंद ''स्याही भीगे पल'' को संजोने हर लम्हा जाग्रत रहे हैं । उन्होंने स्याही की सिसक हो या तडप, सदा ही अलौकिक अनमोल शायरी के ग्रंथ में ढ़ाल जीने की कुव्वत दिखाई है । हम भी इस शायर की महादेवी चेतना को यह शेर अर्पण कर हमारे लम्हात को भी स्याही की नमी से भीगोना चाहते हैं ।

''ज़हर को घोलती सारी सियाही पी चुका हूँ मैं,
ग़ज़ल का मैं शिवाला हूँ, खबर तुझको कहाँ है ।''

- डॉ. सतीन देसाई परवेज़ दीप्ति ''गुरु''

मुफलिसी के भिन्न-भिन्न अंदाज में मस्त शायर जो भूख को भी भक्ति का रूप दे पूजा करता हो । वे उनको तबाह करनेवाली फजांओं का भी एहसान मंद होकर खिज़ां यानि पतझड के मौसम में भी अपनी खुशहाल पनाह पाकर सूखे शजर की सूरत में अपने होने की रौनक को चमका रहे हैं । शेर पे गौर फर्माये ।

''हमारी मुफलिसी की इसलिए रौनक छलकती है,
फिजा ने कर दिया तोबा पनाह जाकर खिजां में ली ।'' पेज २६

इसी ग़ज़ल का अंतिम शेर शायर की गैरों की नाजायज़ शोहरत को टिकाने की दरियादिली को जिस कदर धडकाता है । वह सुनकर शायद हमारी धड़कनें भी तेज हो जायेंगी ।

''रही है आज तक कायम, फटी शोहरत क्योंकि,
तुम्हारी झीर्ण हस्ती को हमारी रूह ने सीली । पेज २६

वैसे भी यह शायर अपनी जवानी में कबीर की तरह सिलाई के ही

कारोबार में लगे रहते थे । उन्होंने कपड़ों की सिलाई मानो कबीरी अंदाज़ में अपने रूहानी तार-ए- जज़्बात से ही की है । इसीका की यह नतीजा है कि वे अन्य की फटी खस्ताहाली को अध्यात्म का बल देकर सुरक्षित कर सके हैं । दुनिया झुकती है, झुकानेवाला चाहीए ।

नवनीत जी की फिक्रे-बुलन्दी तो अपार थी ही । लेकिन उनकी बेखुद दीवानगी भी किसी तरह कम कहाँ थी । मगर इन्होंने अन्य की खातिर अपनी दीवानगी को भी भाग्य की लकीरों की बंदिशों में बांध रखा । वर्ना ये न जाने कहाँ होते? ये बात उन्हींकी जुबानी हम सुन लें तो अच्छा होगा।

''मेरी दिवानगी की हद अभी तक है लकीरों में,
अगरचे पार करती तो जमाना सर झुका देता । पेज २७

शायर जो संकल्पों के ही मुसाफ़िर हैं । वे शक्यताओं में कहीं भी हमें नहीं दिखाई दिये । भले वे यह कहते हो, ''अगरचे पार करती तो,'' यहां 'अगरचे' और 'तो' का इस पंक्ति में होना, सिर्फ संभावना की निर्देशना के लिए ही है । हकीकत में तो उनके पार पहुंचने का अंजाम पहले से तय है। कोई भी दिवानावार शायर भाग्य की लकीरों में कब बंधता है । उसका सफर तो चैतन्य के पार होता है । उसकी मिसालें यहाँ शायर के कई शेरों में रौशन हैं । जिस्म और रूह का भेद हर कोई जानता है । लेकिन बहोत कम ही खुशकिस्मत फनकार होते हैं । जो इस रहस्य की नक्शनिगारी अपने कलाम में कर पाते हैं । यह वरदान नवनीत जी को कुछ हद तक नसीब हुआ है । इसी बदौलत वे निम्न इलहामी शेर को अंजाम दे पाये हैं।

''मरी है मौत तो उसको चिता भी राख करती है ।
अगरचे रूह जलती तो समां भी सर पटक देता । पेज २७

मैं पहले भी इशारा कर चुका हूँ कि शायर का भाषा व्याकरण कई शेरों में कुछ अजीब-ओ- गरीब-सा रहा है । उपरोक्त शेर भी उसीको जलाके सर पटक रहा है । पहले मिसरे में उनका ये कहन ''मरी है मौत'' प्रथम नजरिये से मरना और मौत के दरमियां किसी तत्व के सजीव होने की हकीकत बयान करती है । अगर लफ्ज़े - मौत मरना नहीं तो और क्या है । यहाँ शायर ज़िंदा

मुडदों की बात करते हैं। जो बेएहसास,बेजज्बात, बेहिस होकर हर वक्त अपने कुकर्म में पेश आते हैं। शायर उनकी मौत को मरना क्रियापद असली मौत का अंजाम देकर, चिता पे जलाके राख कर देते हैं। असल में उनका इन्कलाबी पैगाम तो दूसरे मिसरे में अपना वार करता है।

''अगरचे रूह जलती तो समां भी सर पटक देता।''

अर्थात् अगर तमाम उम्र इंसान अपना आत्मदीप जलाये रख सत्कर्मीता का ही व्यवहार और अनुशीलन करता तो यह आज का जो अमानवीय वातावरण है। वह यकीनन सर पटक-पटकके बेहाल हो जाता। शायर के इन जज्बात को मेरे दो रूहानी शेर लागू पडते हैं।

''दूर हो जा ए हवा जो आग का पैकर हूं मैं।
रूह का जिसमें बसेरा वो दिये का घर हूं मैं।
ना मैं बंदा हूँ किसीका, ना किसीकी बंदगी,
इक ग़ज़ल की जात हूँ मैं, कब खुदा से पर हूँ मैं।''
- डॉ. सतीन देसाई परवेज़ दीप्ति ''गुरु''

मौत के मुताबिक कई अशआर उन्होंने कहे हैं। ज़हां मौत का जिक्र छेडा जाता है वहां खयाली तौर पर नहीं,पर अकीदे के तौर पे जन्नत या ज़हन्नुम हमारे दरपेश आ जाते हैं। लफ्ज-ए-जन्नत की प्रयुक्ति शायर ने अपने तरीके से और शायरों से हटके करी है। जिस पर एक नजर डालके हम इन दोनों धामों को दूसरे शायरों की शायरी में छानने की कोशिश करेंगे।

''जन्नत नशीन आरजू को क्यों जगाते हो?
हमारी कब्र पर अश्कों की महफ़लि क्यों रचाते हो?'' पेज ४३

आरज़ू, हसरत, उम्मीद, ख्वाहिश, आस वगैरह हममानी लफ्ज़ों ने शायरी को नायाबियां जरूर बख्शी हैं। पर जब आरजू कि जो जमीं के बाशिंदों में उभर के मचलती है, उसे जन्नत नशीन यानि जन्नत में ही होने की और वो भी सोयी हुई जताने वाले यह पहले शायर है। जो अपनी कब्र में भी ज़िंदा हो ख्वाबीदा है। शायर नहीं चाहते कि उनकी मौत पश्चात पाई हुई ज़िंदगी में कोई जगाके या फिर उनकी कब्र यानि उनके मौजूदा मकान

पे आके आंसू के भी फूल रस्मन तौर चडाके उनके सुकून में दखल पहुंचाए। यह उनका तसव्वुर ही नहीं, बल्कि कजा पश्चात नई ज़िंदगी की जाहोजलाली है । जिसे हम लाइफ बीयोन्ड डेथ के नाम से जानना चाहेंगे। यहाँ तवाजीन के तौर पर मैं दो शेर रख रहा हूँ । ताकि शायर की फितरत का आपको अच्छी तरह अंदाजा आ सके । मुलाहिज़ा फर्माए ।

"हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल के खुश रखने को "गालिब" ये खयाल अच्छा है ।"

- मिर्जा गालिब

गालिब साहब जन्नत को खयाली मान कर ही मज़हबी अकीदे पर कुफ्र फर्माते हैं । इन के यहाँ जन्नत एक ऐसा खयाली खिलौना है ! जिससे खेलते ही दिल खुशहाल हो, मचल जाता है । ऐसे में हमारे गुजरात ही के इक शायर डॉ. मुकेश जोषी जिनका मजमुआ-ए-कलाम "केडी त्रुप्तिनी" कुछ दिन पहले मंजरे-आम पर आया है । उनके एक तरजुमाशुदा शेर पर गौर फर्माए ।

"ज़हन्नुम का मुझे क्यों खौफ देते हो तुम्हीं नाहक,
कई जन्नत है जिनके दरमियां पलथी लगाये हूँ ।"

- डॉ. मुकेश जोशी

अर्थात् ए नासेह मुझे नाहक ज़हन्नुम का खौफ क्यों दिलाते हो आप। मैं वो शै हूँ जो एक नहीं अनेक स्वर्ग के बीच पलथी लगाये तप कर रहा हूँ । तो शायद यह शायर भी कब्र से जागकर अश्कों की महफ़लि रचानेवाले शख्स को जनाब आनंद नारायण मुल्ला के शेरवाला ही एहतियात फर्माते होंगे,

"रोने वाले तुझे रोने का सलीका ही नहीं,
अश्क पीने के लिए हैं कि बहाने के लिए?"

कब्र में होते हुए भी अपनी खुदाई करिश्माई ग़ज़ल की जात के मालिक नवनीत जी को सलाम करते हुए उनके आगेवाले सफर पे गौर फरमाता हूँ । उन्होंने कुछ नज्में भी कही हैं । जिन में वे भाव बिभोर हो

के लगातार अभिन्न बहते चले हैं । जैसे कोई आब- जू समंदर से हमकिनार होने बह निकलती है । नववे नंबर की कविता ''लेकिन'' के छोर पे खड़ा हुआ मैं उनकी रवानी और मौजों की मस्तियाँ देख रहा हूँ ।

''तरापे को नहीं मालूम आंधी का पता क्या है?
नहीं पतवार की साजिश माझी को डूबोने की,
मुरव्वत की नवाजिश मौत समझेगी भला कैसे?
रवानी मौज की तन्हा मरी है ना कभी लेकिन ।'' पेज २२

तरापा, आंधी, पतवार, माझी, मौत, और मौज के प्रतीकों में जो दरियाई सफर का मंजर शायर ने खड़ा किया है । उसमें तरापा पतवार और मौज की निहायत निर्दोषता को बुनकर शायर ने जो तत्व संविधान किया है। वह ज़िंदगी का बुनियादी फलसफा काबिले-गौर है । न ही तरापा, पतवार या मौज किसी को डूबोने की नियत से अपने किरदार निभाते हैं । ये बाहरी हकीकतें हमारे भीतर में बहते जां के समंदर को ही लागू पडती है । ज़हां सांसो का तरापा या धडकन का पतवार या लहू की मौजें कब हमें डूबोने को मचलती हैं । लेकिन हाय । कमबख्त यह बेमुरव्वत मौत ही अपनी साजिशों में हर लम्हा लगी रहती हैं । यही तो अस्तित्व का गमनाक अंजाम है । जिसे आज तक कोई निपट या बदल न पाया है ।

शायर की समंदरी फिक्रमंदी की तहें उनकी ग़ज़ल के इक शेर में चलो, हम खंगाल के मोती निकालें ।

''नाव की बातें भंवर से पूछ लो,
बस मुझे डूबता किनारा ज्ञात है ।'' पेज ५०

इस शेर में सफर करते हुए मेरे ज़हन से मेरा अपना एक समंदरी मत्ला उभर आया है ।

''समंदर का मुसाफ़िर ये असर ही लेके आयेगा ।
जिगर की मौज में तूफान का दरिया बहायेगा ।''

- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

इनके यहाँ गुफ्तगू का अंदाज़ निराला है । "**नांव की बातें भंवर से पूछ लो**" विधान ही सूचक है कि शायर ने समाधि लगा के नांव में सफर की है । नांव और भंवर के टकराव में वे दरअसल स्थितप्रज्ञ ही रहे हैं । सो वे इन सब गतिविधियों से बिलकुल अनजान हैं । उनको तो सिर्फ समस्त का हर डूबता किनारा ही दिखाई दिया है । वही ज्ञात रहा है । यही अध्यात्म चैतन्य के अध्याय को उन्होंने संत कबीर की मानिन्द रटा है । ज़हां घाट,घट और घटक एकरूपता धर कर ही गतिशील हो । इसी सार को उजागर करती शायर गुलज़ार की यह पंक्तियाँ फिल्म "किनारा" से पेश कर रहा हूँ ।

"पानिओं में बह रहे हैं कई किनारे टूटे हुए ।
साहिलों की कश्तिओं का कोई किनारा होता नहीं ।" - गुलज़ार

किनारे को गलता, डूबता देखने का नजरिया तो उन्हींको नसीब होता है । जो स्वयं पिघलके सरापा अपना घाट खोकर बह निकले । नवनीत जी जो स्वयं यमुना तट के साहिल से पिघल अपनी कविताओं में कलकल बह रहे हैं । उनकी पवित्र अवतार माटी को मेरे इस शेर से वंदना कर रहा हूँ।

"अपनी मिट्टी में बहा दो, जिस्म का सारा समंदर,
जिसका पैकर जो बना हो, उसमें ही ढ़ल जाए किनारा ।
- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु"

जो वास्तव से अध्यात्म का बेपनाह सफर करते हो । उन्हें खयाल-ओ-तसव्वुर की पाबंदियां कहाँ होती हैं । शायर ने रूहानियत को लगातार वास्तव की अनगिनत कठिनाईयों को झेल, उनके सामने झूझ और कभी न हार मानकर हासिल किया है । इसी कारण वे अपने सर्जन समाधि में भी वास्तव से विमुख न हो पाए हैं । जियादातर सामाजिक विडंबनाओं का ही चित्रण बडी तेज़ धार से उन्होंने किया है । नमूना के तौर पर कुछ अशआर पेशे-खिदमत हैं । पहले हम उनकी नज़्म "यहाँ" का चार मिसरों का मुखड़ा देखते हैं ।

''यहाँ सोना मना है, ओ' यहाँ होना मना है ।
अगर छलके कभी आंसू, यहाँ रोना मना है ।
यहाँ कुछ बांटने की बात मत सोचो कभी गाफिल,
हडपना सीख लो बिस्मिल, यहाँ खोना मना है ।'' पेज २८

आज का मानव इन्सानियत की पहरेदारी भूल कर हैवानियत में खो गया है । प्रकृति के आइन को भूल कर खुद ही भटक बिखर गया है । और सारे आलम को इसी गिरफ्त में डाले भटका रहा है । अपने होने का, अपने जज़्बात के इज़हार का अधिकार न जाने कौन-सी ये बनावटी अदब और तहजीब हम से छीनती जा रही है । उसका सदमा शायर ने अपने बचपन ही से बडी शिद्दत से झेला है । जिसका काव्यात्मक तंजीया रूप हमें उनकी उपरोक्त चार पंक्तियों में नजर आता है । सोना, होना, रोना और खोना के प्रासानुप्रास में पिरोई गई ये ''लगागागा'' छंद के चार आवर्तन की नज्म हमारे भीतर दबे पीड़ित अहसासात को जगाकर ज़िंदगी के बारे में दुबारा सोचने को मजबूर करती हैं । आखिरी दो पंक्तियों में प्रयुक्त गाफिल और बिस्मिल लफ्ज हमें काफियों की ही अनुभूति कराते हैं । लेकिन यह शायर बडी संजीदगी से इस हकीकत को दोहराते हैं कि इस मनहूस ज़हान में जिगर मुरादाबादी वाला वो पैगाम ''मेरा पैगाम महोब्बत है ज़हाँ तक पहुंचे ''नाकाम साबित हो रहा है । इसके बजाय जिनको हडपने का हुनर हासिल है वह ना ही गाफिल नहीं होता है । ना ही बिस्मिल होता है । इन पंक्तियों को पढ़कर मुझे सदियों पुराने उर्दू शायर जनाब अमजद हैदराबादी का यह शेर ताज़ा हुआ ।

हर चीज का खोना भी बडी दौलत है ।
बेफिकरी से सोना भी बडी दौलत है । - अमजद हैदराबादी

इक हकीकत से यहाँ मैं गौर फर्माना चाहता हूँ कि ''ये गंवार बेजज्ब दुनिया क्या जाने कि इक खास पल है जो लहू और आंसू से सरापा भीगने के पश्चात ही स्याही भीगा पल हो सकता है ।''

हमारे शायर भी इसी मकसदे-हासिल होनेको पैदा हुए थे । कि जो अल्लाह ताला ने अता फर्माया है । वही लम्हा-लम्हा बांटकर, चैन की नींद

सोकर ''स्याही भीगे पल'' का निर्माण करे । पर उनके नसीब में वह लिखा ही न था । भले दुनिया की भरचक भीड ने उनकी तनहाईयों के सुकूनो-चैन तक बेवजह हर तरफ से कसकर दबोचा । इसीके अंजाम स्वरूप उनकी तनहाईयों को पर लगने से वे शायराना परवाज के काबिल बन, आज हमें फ़िक्रि-ए-बुलन्दी पे उडते नजर आ रहे हैं । उनके इस शेर ने यहाँ पर मेरी तनहाइयों के पर को फडफडाए हैं ।

''इसलिए तन्हाईयों के पर निकल आए,
भीड ने कसकर दबोचा, बेवजह उसको ।'' पेज २९

तन्हाईयों के पर का नसीब होना आजके इस भीड के दौर में नामुमकिन नहीं पर दुश्वार अवश्य है । जनाब निदा फाजली के इस शेर की तरह-

''यहाँ किसीको कोई रासता नहीं देता,
मुझे गिराके अगर तुम संभल सको तो चलो ।'' - **निदा फाजली**

पर,परिंदा,और परवाज का जब खयाल आता है । तो पर का यकबयक कट जाना भी मुमकिन ही है । यह जालिम जमाना भीड में हमें दबोचता है । तो हमारे जज़्बात के पर काटने में उसे दैर भी कहाँ लगती है । परकटी अवस्थाओं को भी इस भले शायर ने कहीं-कहीं सकारात्मक तरीके से अपना कर उस जालिम का शुक्रिया भी ईसाई की तरह किया है । शेर का मुआयना कर के देखिएगा ।

"पर कटे पर बच गई हैं सुर्खियां,
हाँ यही उनसे मिली सौगात है ।'' पेज ५०

यह शेर अनेक चित्रों को हमारे सामने खड़ा करता है । प्रथम तो "पर" लफ्ज़ का दोहराना श्लेष अलंकार पैदा करता है । साथ ही में यहां व्यक्तिगत रूप में शायर का यह कहना कि भले ही पर उनके जज्बात के काट लिए गए हैं । अभी तक वे शादाब अहसासात की सुर्खियां उनमें छलक रही हैं । अगर इसका प्राकृतिक रूप देखा जाए तो सांझ के सूरज के पर कटने के बावजूद भी उसकी सुर्खियाँ आसमां की क्षितिजों में जगमगाती है। यहां शायर जिस्मानी परकटी अवस्थाओं से परे ही अपनी अनुभूतियों के नक्शे उभारते हैं ।

शायर को जिस्मानी मौत से जियादा निस्बत मरे हुए जज़्बात से है । सो उनकी कुछ शायरी में "मरना" क्रियापद को "मरी हुआ" अवस्थाओं में बुनकर उन्होंने चौंकाने वाले शेर कहे हैं । जिसके बारे में हम ''मरी हुई मौत'' के शेर का विश्लेषण कर चुके हैं । एक और शेर हमें यहाँ दुबारा ठहर कर सोचने को बेदार कर रहा है ।

''चलो माना तुम्हारा इश्क भारी था सितम से भी,
मरा है हिज्र, अब उसको गले तुम क्यों लगाते हो?'' पेज ४३

इश्क वैसे देखा जाए तो फूल-सा नाजुक और सुगन्धित सांस से भी हल्का होता है । यहाँ शायर इश्क की जोड सितम से कर उसका भारीपन महसूस करते हैं । यह भी अपनेआप में इक नया ही प्रयोग है । लेकिन सानी मिसरे में हिज्र यानि विरह को मरा हुआ कहना, उससे भी जियादा सितमगार लगता है । हिज्र का मर जाना बमानी विरह का तनिक भी खयाल या अहसास के न होने के बराबर है । यानि कि अभिप्रेत पात्र से ना तो जिस्मानी, ज़हनी या रूहानी किसी भी किसम का रिश्ता अब नहीं रहा ।

फिर ये प्रश्नवाची उद्गार यकीनन होगा कि -

''उसको गले तुम क्यों लगाते हो?''

कवि के लिए तर्के- ताल्लुक अंतर की गहराईओं से ही होता है । जो कभी न तो मुडकर देखता है । न कभी वापस पलटकर आता है । यही तो उनकी खुद्दारीओं का छलकता हुआ पैमाना है । जो अपनी खुदी को अच्छी तरह समझ कर, बेखुदी की राह पर माइल हो जाते हैं । एक फिल्मी शेर इस मानी को और उजागर करेगा । पेश है ।

''अपनी खुदी को जो समझा उसने खुदा को पहचाना,
आजाद फ़तिरत-ए-इन्सां अंदाज़ क्यों गुलामाना?''

कोई भी शायर कितना ही फिक्रमंद क्यों न हो, चाहे खुदाई करामतें उस पर चोधारा बरसती क्यों न हो । हयात का वो मुकम्मल राज़ दां किसी सूरत भी नहीं हो सकता । इसी मफहूम को यह शायर एक छोटी बहर नज्म ''ज़िंदगी'' में दो मिसरे के मुखड़े में दोहराते हैं ।

''ज़िंदगी तू कहीँ सहेली है ।
या बनी तू कहीं पहेली है ।'' पेज ४६

ज़िंदगी को सहेली के रूप में भले हम अपनाकर उम्रभर उसकी सखावत का लुत्फ उठाये । उसे हर हाल में समझ पाना संतो के लिए भी मुमकिन नहीं है । क्योंकि ज़िंदगी के रहस्य उसकी किताब के उन पन्नों में निहां रहते हैं । जिन्हें कोई भी वक्त किसी सूरत खोल पढ़ नहीं पाता । इसलिए तो वो सहेली होने के बावजूद कई मरतबा अनमिट पहेली होकर हमें हैरत में डाल देती है । इसी सारार्थ को बडी शिद्दत से उर्दू के शायर फानी बदायूनी ने अपने इस शेर में ढ़ाल कर हमें आगाह किया है ।

इक मुअम्मा है न समझने का न समझाने का,
ज़िंदगी काहे को है, इक ख्वाब है दीवाने का । - फानी बदायूनी

अर्थात् ज़िंदगी इक ऐसी पहेली है जो न समझने के लिए है, न ही समझाने के लिए । क्योंकि ये तो कोई दीवाने का ख्वाब है । जिसने इसे बनाया है । ज़िंदगी भले पूरी तरह समझ न आए । यह शायर भलीभांति जानते हैं कि सिकंदर जैसी शख्सियत का अंजाम भी आखिरकार सबकुछ होनेके बाद भी खाली हाथ का तमाशा ही होकर रह गया है । इसी सबब वे अपनी चार पंक्तियों में इसीको दोहराते हैं ।

''हाथ लंबा रहा सदा जिनका, देख खाली खुली हथेली है ।
नींव पक्की बनी मिली उनकी, खूब ऊंची उठी हवेली है ।''
पेज ४६

ये तो हरकोई जानता है कि आसमानी इमारतों की नींवें पाताल में लगी होती है । अस्तित्व की अनिश्चित आवन-जावन के बारे में शायर अपना पता भी किस तरह खो देते है । उसका बयान भी बडी बेफिक्री से वे इक छोटी बहर के मत्ले में करते हैं ।

''आना रहा ना जाना रहा ।
घर का कोई ना ठिकाना रहा ।'' पेज ६१

आमदो-रफ्त तो हरकिसी से लगातार जुडी रहती है । पर उपरोक्त शेर भी जैसे ज़िंदगी की कोई पहेली न हो गया हो, ऐसा ही महसूस होता है। अवतार होते जीव को जमीन और विलुप्त होते आसमान की खलाएँ अपने निवास स्वरूप प्राप्त होती हैं । तो यहाँ ऐसी कौन-सी आवन-जावन बिना आवारगी हो रही है । जिसका स्वयं मकान ही लापता हो जाए । यह पहेली कौन सुलझा पाएगा । कोई तो बताये । इसी पहेली को इक सवालाना शेर से जोड के शायर मुसीबतें और बढ़ा रहे हैं ।

''किसके हवाले करे जां जफर?
नया भी नहीं, ना पुराना रहा ।'' पेज ६१

ज़हाँ कुछ भी न होने के आसार नजर आते हो । वहां ज़िंदगी का सफर कैसा होगा । वहां पर एक यह सवाल ही उठेगा । जो शायर तन्हा अपने शेर में करते हैं ।

''तुम तो फर्माते हो घर जाएंगे,
हम को कह दो कि हम किधर जाएं?'' - शायर तन्हा

जो लापता है । अगर वही पते की तलाश में आवारा भटकने लगे तो उसका अंजाम क्या होगा । वही चित्रण सफाई के साथ शायर ने चेहरे, चेहरा, सहरा और सहरा का आबाद जोड मिलाकर एक गीत काव्य में किया है जिसके मुखड़े की चार पंक्तियाँ देखिए ।

''कोई पता खोजे चेहरे पर कोई पते पर चेहरा,
सहरा पर हैं, पांव खड़े पर आंख ढूँढ़े हैं सहेरा!'' पेज ५६

पता और चेहरे की पुनरोक्ति को आजमाकर शायर श्लेष अलंकरण तो करते ही हैं । लेकिन बहोत बडा कुतूहलभरा रहस्य भी खड़ा कर देते हैं । चेहरे को देख किसका पता, कौन लगा सकता है । या पते पर किसका चेहरा कौन पा सकता है । वही जाने जिसने यह खेल रचाया है । शायर तो यही जानते हैं कि हम ज़िंदगी के रेगज़ार में खड़े-खड़े; गुलों में पिरोया शादाब जज़्बात का सेहरा किसी खूबसूरत जश्न की नुमाईश में ढूंढ़ रहे हैं। इससे जियादा हमारी बदकिस्मती क्या हो सकती है ।

सहराई गर्दो-गुबार ही आजके दौर के मुसाफिर को हासिल है । क्योंकि उसकी बदज़हनियत और बदकाराना किरदार उसे तहजीब और तमद्दुन की रंगीनियों से कई दूर बदरंग भटका रहे हैं । इसी असह्य वास्तव से खफा शायर बनाम नवनीत जो कविता के व्रज का पवित्र मख्खन है ।

व्रज के ही प्रतीक गोपी, गगरी एवम काना को उपरोक्त गीत ''कोई'' की आखरी कडियों में यूं पिरोते हैं ।

''धाक जमी है धूर्त करों की, अंधी इस नगरी में,
गोपी भी अब घूम रही है मय साथ लिये गगरी में ।
नैन चुरा कर देख रहा है काना खड़ा है बहरा ।''
सहरा पर हैं पांव खड़े पर आंख ढूँढ़े हैं सेहरा ।

इस स्थान पर हमारे घूमते हुए कदम ही नहीं, नाचते हुए मन और धडकते हुए ह्रदय भी थम जाते हैं । अफसोस और सदमों की उस नगरी में हमारा बसेरा है । ज़हाँ लहलहाती, चहचहाती, मस्त गाती, झूमती नाचती पारस्परिक श्रद्धाएं भी अपनी तमाम इंद्रियों को खो कर अंधी बहरी और गूंगी हो एकदूसरे के साथ अमानवीय अधर्मी व्यवहार कर रही हैं ! इन अवस्थाओं का निरूपण गहराई से शायर ने उपरोक्त गीत काव्य में,व्रज के प्रतीकों से कर, पुराकल्पन विनियोग को सार्थक किया है । ज़हां अपना पूजक और संरक्षक काना स्वयं नैन चुराए बहरा होकर इन तमाशों को देख निराधार खड़ा है ।

हमने शायर की ग़ज़लों के अनूठे भाषावैभव, व्यंजना, व्याकरण, अलंकार प्रयुक्ति वगैरह को जदीद रंगों में निखरते कई अशआर में देखा-जांचा और नयनों में भरा भी है । उसके और पहलुओं को हम आगे उजागर करेंगे । लेकिन चूँकि यह शायर मूलतः गीत कवि है । जिन्होंने गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओं में एक से एक बढ़कर गीत कहे हैं । जिसकी मिसालें यहाँ आप रसदर्शनी में संतर्पक पा ही चुके हैं । एक-दो और गीतकाव्य के शृंगार से चलो, हम भी शृंगारित हो ले ।

खुद के साथ एकात्मताका अभाव हमें किश्तों में जीने पर मजबूर कर रहा है । इसका बेतहाशा गम अपने गीतों में वे भरभर के हमें पीला रहे हैं।

यही उम्मीद से कि यह कहीं ज़हर का रूप ले मानवता को उगल जाये, उससे पहले हम दुबारा हमारे रहनसहन,बर्ताव, बिखराव और आपखुदी के बारे में दुबारा सोचकर अगर मूलावस्था में वापस लौट आए । तो फिरसे जीवन स्वर्गलोक हो जाएगा । इसमें कहीं कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है । आओ तवील काव्य ''किश्त'' की आहो-फुगां को सुनें ।

''किश्त में आए यहाँ सब, किश्त में सब जी रहे हैं ।
पुण्य को भी बांटकर किश्तों में हम, किश्त में पापी रहे हैं ।
गम की गगरी को छुपाकर, भ्रम की नगरी को बसाकर,
रात जगती है हमारी धूर्त सपनों की डगर पर,
अश्क की धारा भी अब तो किश्त में बहती हमारी
वस्त्र की धज्जियां उड़ाकर सभ्यता को किश्त में सब सी रहे हैं।''

पेज ६३

उपरोक्त काव्य में कवि ने किश्त की पुनरोक्ति लय से आने-जाने के दरमियां जो जीने की धूर्त रीतियां मानव ने अपनाई हैं । उसका विलाप मंत्र आसनस्थ समाधि धर होके ''स्याही भीगे पल'' में रटा है । हरेक कर्म का इस तरह बट अधूरापन कवि को खाए जा रहा है । पुण्य जो हमें वरदान स्वरूप मिला है । उसे तो दुगना कर जमाने में बांट सत्कर्मों की बहारें खिलानी चाहीए । उसके बजाय ये पापी कंजूस जीव उसे भी किश्त में ही बांट कर अपना पाप दुगना कर रहा है ।

इक बार फिर से ''गम की गगरी और भ्रम की नगरी'' रचाकर कवि प्रासानुप्रास की लयवाहीनी खड़ी कर हमें बहा रहे हैं । ख्वाब जो कि भ्रामक होने के बावजूद धूर्त व्यक्ति का रूप धर के रात में सफर करते हैं । यह तसव्वुर कवि की अपनी संजीदा अनुभूति की काव्य प्रयुक्ति की बेनमून पहचान है । वस्त्र की धज्जियां उडाकर सभ्यता को किश्त में सी ने का यह दर्द हिन्दोस्तानी संस्कृति के यह पहरेदार को कैसे बर्दाश्त होगा । आप ही बतायें । उनकी आत्मा भी ''जब जब फूल खिले'' फिल्म के गीत ''यहाँ मैं अजनभी हूँ, मैं जो हूं बस वही हूँ ।'' के दर्द की तरह से यकीनन

लबालब भर जाती होगी ।

गीत काव्य के तसलसुल का यह आखरी पडाव था । अब हम हमारे अधूरे..टूटे सपनों को आँसू भर देख लें । वैसे अनेक गीतकाव्य विश्लेषण चहेंगे । लेकिन हम गीतों से मुडकर एक-दो अछंदास कविता की डगर पर भी पांव बढ़ाना चाहते हैं । चलो यह काव्य ''ख्वाब अधूरा.. टूटा सपना ''की कुछ कडियों को हम बुन के अधूरे ख्वाबों को पूरा करें ।

''परकटों की उम्मीदें भी परकटी होती नहीं,
कोयले की आबरू काली जरूर,
पर तरकटी होती नहीं,
चिथडों में लिपटी कोई निराशा
नग्नता को ढ़ांकने होगी विफल
पर फटी होती नहीं ।'' पेज ३५

शायर के पास परकटे शब्द नहीं पर आसमानी फडफडाते परों का मानो भरपुर खजाना है । वरना परकट से परकटी और तरकटी प्रासों का सहज अभियान वे क्यों कर कर पातें । उपरोक्त अछांदस पंक्तियां इनके जीवनसमस्त की अनुभूतियों का निचोड़ हैं । अधूरापन भी अपने अस्तित्व का इंकार कब करता है । वह भी अपने अधूरे ख्वाबों से झांक कर नुमायां होता है ।

यही मनोवैज्ञानिक संकेत शायर उपरोक्त पंक्तियों में विफलता भी अपना सामर्थ्य किस तरह जता सकती है । उसकी मिसालें परकटी उम्मीद, कोयले की काली आबरू और चिथडों में लिपटी निराशा के माध्यम से साकार की हैं । यह व्यक्तिपरक अनुभूति न रहकर समस्ति का आईना हो रही हैं । अधूरा हो कि पूरा ख्वाब वह अपने तर्ज ओ' तराने तो बजाता-गाता है । इसी भाव को शायर ने अपने एक शेर में आवाज की सूरत में ढ़ाल कर खूब गाया है ।

''कल तक आवाज़ सुनी थी सपनों में,
आज उसी से गाने को मन करता है ।'' पेज ४८

यहाँ स्वप्नस्थ नहीं पर कवि की जागरूक अवस्था का चैतन्य गा रहे हैं । अगर नींदग्रस्त सपने में आवाज उठती भी है तो, उसे कौन चेतना सुनने को जागरूक होती है । यह सवाल अपनी अहमियत रखता है । यह मुमकिन ही कहां है । लेकिन यहाँ तो कवि उस सपने की बात करते हैं । जो हकीकत का रूप धर कवि के भीतरी साज बजा कर मीरां एवम नरसिंह की तरह गान भक्ति करने को व्याकुल कर रहा है । कवि का यह कहन"आज उसी से गाने को मन करता है" निरंतर की जागरूकता का ही परिणाम एवम परिमाण है ।

नवनीत जी में मीरां-नरसिंह का होना जितना सहज है, उससे अधिकतर वह कबीरी तारों में बुने हुए नजर आते हैं । वैसे भी कबीर उनके प्रिय कवि ही नहीं पर वे कबीर के भक्त रहे हैं । सो उन्हीं भक्ति के आयाम से परिणमित निर्गुणवादीता इनके यहाँ छलकती दिखाई देती हैं । संग्रह की बहुविध विधाओं से हम, ग़ज़ल, गीत,नज्म अछांदस एवम मुक्तक से तो सघन परिचित हो पाए हैं । अब आखिर में उनकी दोहाई गीतनुमा ग़ज़ल "एहसास" के चंद शेर से चलो पुलकित हो जाएँ ।

"मुल्ला रचाए मस्जिद और मंदिर को पंडित ।
अपनी डफली अपना राग, गूंज ना पाए संगीत ।

दाने हो या मनके, डोर कहो या धागा,
एकसूत्र में बांध कैसे, मन सबके हो शंकित ।
अजान-अर्थ ना समझे, पाप ईमान न पहचाना,
मतलब क्या फिर पत्थर पर या प्रृष्ठों पर हो अंकित ।
मज़हब का माने इतना सब रहें अम्न औ चाहत से,
आदम का दुश्मन इन्सां तो धर्म खुदा से वंचित ।
आओ फिर एकबार रचाएं स्वर्ग यहीं पर सपनों का,
अल्ला, ईश्वर या नानक के नाचे मन हो हर्षित । पेज ६९

चौदह गुरू वरण में संतकथा की मानिन्द प्रज्वलित यह ग़ज़ल सनातन मानव धर्मीता को कलंकित करते मज़हबी अंध आचरण के सामने क्रांतिकारी

रुख अपनाये हुए है । आदिकाल से लेकर आधुनिक युग के सचेत सर्जकों ने अपने-अपने मुख्तलिफ अंदाज में धर्मगुरूओ से लेकर धर्माचरण के मिथ्या साधनों के आगे तेज़ रवैया अपनाया है । ज़हां कबीर की बात हो, वहां प्रेम के ढ़ाई अक्षर के आगे पोथी पंडिताई को नामशेष होने का खौफ खाए जाता था । आज के युग में भी नवनीत जी जैसे धर्मविरोधी फनकारों की नरसिंह महेता की मानिन्द हकालपट्टी होने की संभावनाएं कम तो नहीं। लेकिन जो आत्मज्योत जलाए हुए हैं । उन्हें कौन बुझा पाये ।

मुल्ला मस्जिद और पंडित मंदिर रचाए अपने स्वार्थ की डफली और साज से भक्तों में जो मिथ्या अनुराग भर रहे हो, तो वह असली अनाहत नाभिनाद का संगीत कैसे बज पाए? इसकी दहेशत इस मानवभक्त कवि को चैन कहाँ लेने देती है । भक्ति पूजा के लिए वरदानित हमारे हाथ डोर-धागेमें बंधित मालाएं निरंतर अथक चला तो सकते हैं । पर हमें वो एकाग्र मन कहाँ मिला है जो एकसूत्रता को साध सके । कवि भक्ति मानस की अस्तव्यस्तता से और पीडित हो, मूर्ति और धर्मपोथी के बेमतलब होने के भारण से भी तंग आ चुके हैं । उन्हें वह भक्त कहां दिखाई देता है । जो अजान का अर्थसार समझे, या कि पाप या ईमान की पहचान कर सहीह इन्सान होने को मचल उठे ।

इसी कारण वह भीतरी आंदोलित होकर उपरोक्त शेर कहने को तडप उठे हैं । इस आलम में हरपल बदलते वक्त के तकाजे में ज़हाँ अधर्म ही धर्म होता चला हो । वहां मानव भी एक जैसा कैसे रह पाए यह समस्या ही उपरोक्त ग़ज़ल की जननी है ।

खैर, समय चाहे कुछ भी मांगे, नवनीत जी न ही अपनी सोच से, न ही अपनी रीतिओं से न ही अपने ईमान से हटनेवाले हैं । इसीलिए तो वह चौथे शेर में अमन और चाहत को ही गीता का श्लोक और कुरआन की आयात ठहराके ईमान की राह चलके खुदा के असल बंदे होने का बोध दे रहे हैं । आखिर में ये सकारात्मक चैतन्य के आग्रही जीतेजी ही इन्सानी किरदार निभाके, इस धरती को स्वर्ग की गरिमा देकर अपने श्रद्धेय को हर्षित करने का मंत्र हमें दे रहे हैं । साधन रहित भक्तिकर्म की उपासना को यहाँ एक शायर का काव्यमंत्र पेश है ।

'न मंत्र हो, न मौन हो, न कोई शब्द ज्ञान हो ।
न कुछ हो पाने को यहाँ, न बंदगी अजान हो ।
- डॉ. अंकुर देसाई

कवि ने अपनी हरेक रचना में हमें अपनी स्याही भीगी पलों से सींचा है । वे लम्हे उनको आजनम तपस्वीकर्म की बदौलत नसीब हुए हैं । क्योंकि उन्होंने वक्त की सनातना को भगवत गीता में किए गये आत्मा के गुणवर्णन की तरह सरापा जाना-पहचाना है । इतना ही नहिं उसके आरपार सफर कर वक्त को अपने काव्यात्मक रूप में ढ़ालने की कुव्वतें भी प्राप्त की हैं । इसी वजह से वे वक्त के मुताबिक एक लम्बी नज्म कह पाये हैं । जिसकी कुछ बोधात्मक पंक्तियाँ पेश कर ''स्याही भीगे पल'' के सफर को हम अंजाम देना चाहते हैं ।

''वक्त ना जन्मा कभी मरता नहीं ।
वक्त ना तन्हा ना ही टोली बना ।
वक्त ना रिश्ता किसीसे बांधता ।
तोडता ना और कुछ ना सांधता ।
आंख उसकी बंद ना खुली कभी ।
वक्त ना डूबा कभी तरता नहीं ।
वक्त ना उलझा ना सुलझता है कभी ।
वक्त ना बुझता ना सुलगता है कभी ।
वक्त क्षण में कब भला सिमटा कभी ।
वक्त पल के बाद विस्तरता नहीं ।'' पेज ३३

वक्त के मुख्तलिफ पहलुओं को विभाजित करके भी अविभाज्य रूप में प्रयुक्त करने का फन ही नवनीत जी को ''स्याही भीगे पल'' का अविरत सफर सदीओं पर्यंत करा रहा हैं । वे चाहे आखिरी पंक्तियों में यूं भले ही क्यों ना कहते हो....

''वक्त क्षण में कब भला सिमटा कभी ।
वक्त पल के बाद विस्तरता नहीं ।''

इस कथन को ही नया मोड देकर उन्होंने क्षण में सदीओं को सिमटाकर, एक पल में दुबारा सदीओं का विस्तार "स्याही भीगे पल" में गीता के इस सार की मानिन्द किया है ।

"सिमट जाते हैं सारे रासते मेरे ही अंदर,
मुझीमें खत्म होता दो ज़हाँ का कारवां है ।"
- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु"

"स्याही भीगे पल" का यह सफर जो शांति प्रकाशन दिल्ली से सन १९९५ में शुरू हुआ है । वह दूसरे संग्रह में किस सिम्त हमें अपना सफर कराएगा । उसके सुराग पाने आईए आगे बढ़े ।

●

२

डॉ. नवनीत भाई ठक्कर के दूसरे काव्य संग्रह "तन्हा लम्हों की सूर्खरू लकीरें" का अवलोकन ।

नवनीत जी के प्रथम काव्य संग्रह 'स्याही भीगे पल' का विस्तृत अवलोकन संतर्पक परिमितिओं को अवश्य साध चुका है । ज़हां कवि के सर्जनकर्म की अछूती ऊंचाइयों की हमें अवश्य अनुभूतियां हुईं हैं । यहां शायद कवि अपनी तपस्या को पूर्ण विरामित कर देतें । पर यह मुमकिन कैसे हो सकता है?

इस कवि के लिए! जिनके नजरिये से अभी उनका तप तो केवल "स्याही भीगे पल" को निचोड के उनका स्याही स्वरूप चित्रण ही कर पाया है । वे इसी समाधिगर्त में डूब उन लम्हों को सर्जन के ताप में तपनेवाले तन्हा लम्हों का वरदान देना चाहते थे । जो अपनी अनुभूतियों की नक्शनिगारी अर्थात् चित्रण सुर्खरू लकीरों में करके अपनी तपस्वीता को कुछ नये परिमाण दे । यही मकसद कवि का रहा होगा । जिसकी नवाजिश में मैं अपने एक ताजा-तरीन शेर की सुर्खरू लकीरें यहाँ बनाने की आपसे इजाजत चाहता हूँ।

"एक लम्हा जब सदीओं के बराबर हो जाए ।
"तन्हा लम्हों की लकीरें सुर्खरू" वो कर पाए ।"

- डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़' दीप्ति 'गुरु'

कोई भी कवि अपनी सर्जन यात्रा के बारे में अपनी भावोक्ति करना चुकता नहीं है । यही सहज उसका आत्मबल होता है । सो यहाँ यह कवि भी उसी धारा में बहकर अपनी सर्जनाभूति को समर्पित भाव से ही इन्हीं जज़्बात में अपने संग्रह के अव्वल पन्ने पर पेश करते हैं । समर्पित... "मेरे उन तमाम लम्हों को, जिन्होंने मेरे भीतर निहित, शायराना अंदाज को, सुर्खरू लकीरों में अभिव्यक्त होने की, माशूकाना कोशिश में, आशिकाना साथ निभाया...." कवि की माशूकाना कोशिशों में तो तन्हा लम्हों ने आशिकाना

साथ निभाया ही है । लेकिन कवि को प्रोत्साहक बल देने गुजरात के मूर्धन्य हिन्दी सर्जक प्रसिध्द कवि द्वारिका प्रसाद सांचिहर तथा उज्जैन के विश्वख्यात सर्जक राममूर्ति त्रिपाठी जी ने भी, जज़्बाती तौर पर अपनी प्रस्तावक भूमिकाएं निभाकर अजोड साथ दिया है ।

कवि की कविताओं के चेतोविस्तार करने से पहले हम इन्हीं प्रस्तावको के भावचित्रों की सूर्खरू लकीरों को समझने की कोशिशें करें, तो और भी बहेतर होगा ।

द्वारिका प्रसाद जी जिन्होंने 'स्याही भीगे पल' में भी अपनी भावोक्ति की थी । उनके मत से "धूप संग निखरते नवनीत जी ने ज़िंदगी के हर रंग-ढ़ंग और उतार-चढ़ाव को अपनी संजीदा निगाहों से देखा-परखा ही नहीं । लेकिन जिया भी है । इसलिए 'स्याही भीगे पल' की और तन्हा लम्हों की तासीर अर्थात् वक्त की रग को उन्होंने पहचान ने में कोई कसर नहीं छोडी है! उनकी तेजस्वी प्रतिभा ने राह की सुर्खिओं को छुआ है । और उनको सिहरते-सहमते पाया भी है । कवि की नाजुक खयाली और नाजुक मिज़ाजी ज़िंदगी के कठोर वास्तव में पली-पनपी है । इसलिए वे कल्पना की जगह हकीकत के हलके-गहरे रंग-रंगीनी भरते हैं । उनके लफ्ज़ों में इमानदार बयानी है ।"

तो दूसरी तरफ "वातानिका" शीर्षक तहत राममूर्ति त्रिपाठी जी यह कहते हैं" काव्य के विभिन्न उपादानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मूलभूल उपादान है सर्जनात्मक अनुभूति । स्रुष्टि या सर्जना अंतः स्थित का बहिः प्रकाश है । इस अनुभूति का मूल रागात्मक उर्जा है । जीवन में अभाव उसे और उर्जस्वल बनाता है । राग में कहीं आग, और आग- पानी ही से सर्जक का स्वरूप बनता है । कविता में कथ्य के साथ कथन का भी एक पक्ष होता है । ठक्कर जी ने इस दिशा में निरंतर तपस्या की है ।"

इन महानुभावों के कथित इन अभिप्रायो को कवि ने अपने हर सामर्थ्य से न्याय देने की हर जगह कोशिशें की हैं । जिसकी अनुभूतियां आपको अपनी तन्हाई के आलम में इसके रसदर्शन के भीतर डूबकर सूर्खरू होने पर अवश्य होने लगेंगी । आईए अब "तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें" की

सर्जनी पर गौर फर्मायें ।

''आज तक जो था, नहीं, मैं वह रहा ।
बात ऐसी अब जमाना कह रहा ।
चाहतों से आह का दरिया पीये,
आज बस तन्हा डगर को चह रहा ।'' पेज. ९

कवि के अपने आज के वर्तमान में जो बेहद बदलाव जमाने को दिखाई दे रहा है । उसका गौरव उठाकर यह विधान करते हैं कि मैं ''वह नही रहा हूँ ।'' जो कल तक था जिसे दुनिया अपनी साजिशों की गिरफ्त में लेकर परेशान करती थी । लेकिन मैं उनके उन तंग और तंजिया बरताव से छुटकारा पाकर अपनी तनहाइयों के सफर में चल निकला हूँ । एक ऐसी लाफानी कुव्वत के साथ कि जो मुझे मेरी नाकाम चाहतों ने असीम आग का दरिया लबालब पीलाकर अता की है । मेरा ये इश्क-ए-तन्हाई मुझे जरूर जिगर मुरादाबादी वाला वो दरिया-ए- इश्क सर कराएगा ।''

''ये इश्क नहीं आसां, इतना ही समझ लीजे
इक आग का दरिया है,और डूब के जाना है ।''

- जिगर मुरादाबादी

''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें'' खींचना इतना आसान तो नहीं, जितना कोई फनकार समझता हो । मगर यह वो फनकार है, जिनकी गिनती करना और उनके किस्सों को समझना दुश्वार ही नहीं, शायद नामुमकिन-सा भी है । इसलिए वह धीरे से अपने इन अशआर में उसका इज़हार करते हैं ।

''यूं तो गिनना उन सभी को है नहीं आसां,
मेरा किस्सा है मगर सबसे जुदा, लिखना ।
जिसने भी मुझको दिखाया पंथ आफत का,
उसका पूरा हो गया है हक अदा, लिखना ।
किसको फुर्सत है यहाँ पर कल को पलटने की?
पल रहेगा पल में कायम बस सदा लिखना ।'' पेज. १०

'लिखना' रदीफ को लेकर कई शायरों ने अपने-अपने अंदाज में ग़ज़लें कही हैं । जो रदीफ आम होनेके बावजूद प्रस्तुत कवि के लिए सबसे

अनूठी हो गई है । जो खुद ही फर्माते हैं कि **''मेरा किस्सा है मगर सबसे जुदा लिखना ।''** आप इनके बयान पर गौर फर्माए तो उसकी हकीकत को समझ पाएंगे की उन्होंने जीवन में कैसी-कैसी होनी- अनहोनी का सामना किया होगा । जो शायद ही किसीके हक में हो । इसका भी

सुबूत देते हुए वह कह रहे हैं **''उनका पूरा हो गया है हक अदा, लिखना ।''** जिन्होंने उनको बेशुमार असह्य आफतों से तोडने की कोशिशें की हैं । वे लोग अब उनपे ज़ुल्म करने का हक खो चुके हैं । कवि का यह मानवीय फलसफा हमें जगाता है कि अगर आप किसी पे रहमो-करम करते हैं । तो आपका हक या इख्तियार दुगना बढ़ता है ।

मगर जुल्म करनेवालों का अंजाम खुद ही का मिट जाना होता है । शायर अपने इमान को मुकम्मल निभाकर ही गर्दिशे-हयात यानि कि आफतों का सामना आह या शिकायत किए बिना संत की मानिन्द करते आए हैं । इसी वजह से उनका सनातन वक्त के बारे में जो अध्यात्म फलसफा रहा है । वह वक्त के साथ कभी नहीं बदला । चाहे यह जमाना या सदियाँ क्यों न बदल जाएं । इसी कारण तो वे बडी शिद्दत से वक्त के बारे में यूं कह पा रहे हैं ।

''किसको फुर्सत है यहाँ पर पल को पलटने की?
पल रहेगा पल में कायम बस सदा, लिखना ।''

ज़हाँ तक कविता के अलंकरण की बात है! यह कवि वर्णानुप्रास में ''पल'' को बारहा दोहराकर श्लेष अलंकार की प्रयुक्ति सार्थक रूप से करके अपने कथन के मर्म को ठोस मकाम देने में नित्य सफल दिखाई देते हैं ।

कवि इंकलाबी जबान में यह सवाल भले उठाते हो **''किसको फुर्सत है यहाँ पर पल को पलटने की?''** दर हकीकत फुर्सत तो क्या! आप सारी जींदगी भी खर्च करदो तो भी सिर्फ़ पल का शायद जाहिरी तौर पर कुछ बदलाव आप कर पाएंगे । लेकिन उसकी असलियत को बदलने का हक इंसान को कहाँ है? इसी सनातन तत्व संदर्भित वह दूसरी पंक्ति में साफ बयान करते हैं कि..

'पल रहेगा पल में कायम बस सदा, लिखना ।'

यहाँ "लिखना" जिस शख्स से अभिप्रेत है, वो कोई आम नहीं पर इतिहास का तहरीरकार ही होगा । जो हमें सदी-ब-सदी के वाकियात की जानकारियां देनेको ही पैदा हुआ है ।

तन्हाई के ही यह मकामी केवल अपना अधूरा सफर करके ही तन्हा लम्हों की सुर्खियों से खुद ही को रंगीन कर रहे हैं । यही इनके मनोभाव रहे हैं । जो उनपर गुजरे अभावों का ही प्रभाव है । इस सिलसिले में उर्दू के उस्ताद शायर नजीर कैसर का यह शेर उनकी श्रद्धाओं पर लागू पडता है ।

"कभी-कभी तन्हाई में यूं लगता है,
जैसे किसीका हाथ है मेरे शानों पर ।" - नसीर कैसर

शायर की भी यही अद्रश्य अनुभूतियां रही होंगी । जो इनका आत्मबल बढ़ाती होंगी । मगर इक बात पे यहाँ हम गौर फरमायें कि इन अभावों ने न तो इन्हें बेचैन किया है । न तो मायूसी के घेरे में डाला है । बल्कि इन्हें कविताओं की पुख्ता सोच के लिए बेदार ही किया है । यह अशआर हमारे नजरिये पर खरे उतरेंगे ।

"अंधेरे का गम था, उजाले का डर भी ।
सताता रहा है अधूरा सफर भी ।"
न चाहा हमेशा, हसीं-सा ठिकाना,
न पाया मुकम्मल धुआँ, ना सहर भी ।" पेज. १३

उपरोक्त छोटी बहर में, "लगागा" के चार आवर्तन में अपने अहसासत को पिरोते शायर अजीबो-गरीब मनोविज्ञान के चित्र हमारे आगे उभार रहे हैं। मूलतः ग़ज़ल विरोधाभासी तत्वों की ही काईल होती है । सो उसीका भरपूर प्रयोग यह शायर बडी बेबाकियों से किये जा रहे हैं । वह जानते हैं कि तन्हाई के मकाम चाहनेवाले के लिए भीड की हिमाकत नागवार होती है । तन्हाई अपने-आप में अगर मुकम्मल हो जाए तो उसकी तंगदिलियां मिट जाने से वह खामौश हो जाती है । जिसके अंजाम में सर्जनी भी रूक

जाती है । सर्जनी को अधूरा पन ही उपकारक होता है । नहीं कि संपूर्ण हो जाना । इसी भाव से प्रेरित "हमदर्दी नहीं हाथ चाहिए ।" के नवोदित शायर प्रबीर गौरांग भट्ट "शागिर्द" अपनी दो पंक्तियों में यूं कहते हैं ।

"सब कुछ मिल गया अगर तो ज़िंदगी का माइना क्या होगा?
इतने मुकम्मल हो गए तो हम खुदा, और वो इंसान बन जाएगा ।"
- प्रबीर गौरांग भट्ट "शागिर्द"

नवनीत जी ने अपने अधूरे सफर में अंधेरों का ना ही खौफ खाया है । ना ही उजालों का । क्योंकि वे तो एक-अकेले तन्हाई के लम्बे सफर में उन लम्हों को साथ ले चलते रहे हैं । जिनको अधूरे धुएँ और अधूरी सुबह ने ही, सुर्खरू होने के लिए बेताब कर दिया था । सो यह तन्हा लम्हों ने ही शायर के तसवीरकार होकर के उनकी शायरी में नायाब सुर्खियों की नक्शनिगारी की हैं । जिसकी मिसालें हम देना चाहते हैं । इस शेर से यह मतलब खोल रहा हूँ ।

"लगे कि धडके मकां, और फिर ये सन्नाटा ।
किसी की चीख़,धुआं,और फिर ये सन्नाटा!"
- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु

इकबार फिर से नामुकम्मल अंजाम की तरफ अपना रुख मोड दें हम। और ये पता करे कि इनके यहाँ जो अधूरापन रहा है वह दरअसल किसकी तासीर बना रहा है । यह दो अशआर उसका राज खोलेंगे ।

"अल्फ़ाज़ कर सकेंगे कैसे बयां मुकम्मल?
पहचान महजबीं की पलकों से पूछ लो तुम ।
आंखों से क्या दिखेगी मन की छवि किसी की ?
अपनों के रूप क्या है सपनों से पूछ लो तुम ।" पेज. १९

इनके यहाँ मुख्तलिफ बहरें मुकम्मल तौर पर अपना रंग-रूप जमाती हैं । उपरोक्त ग़ज़ल कि जो डो. इकबाल साहब ने वतन परस्ती को निभाने के लिए कही है..

"सारे ज़हाँ से अच्छा हिन्दोसतां हमारा"

उसी बहर "गागालगा लगागा" के दो आवर्तन में नवनीत जी ने भी कही है । इनके यहाँ उर्दू अल्फ़ाज़ भी बहेतरीन तरीके से अपनी सहीह जगह बनाकर बेसाख्ता उतर आते हैं! जैसे कि अल्फ़ाज़, मुकम्मल और महज़बीं वगैरह । यह बडी हैरत की बात है कि गुजरात जैसे गैर हिन्दी जबान के मुल्क में यह शायर उर्दू लहजे का यथार्थ इस्तेमाल कर रहे हैं । इसकी वजह और राज क्या है? वह उन्हींकी जुबानी हम सुनना चाहेंगे । वे कहते हैं..

"एक बात और- 'स्याही भीगे पल' में इसका जिक्र मैं कर चुका हूँ और यहाँ पर फिर उस हकीकत को दोहराने की जुर्रत कर रहा हूँ कि- मैं इक गुजराती भाषी हूँ, मेरी रगों में आज भी इसी प्रदेश का खून बह रहा है, ऐसे में हिन्दी भाषा सीख लेना कोई नामुमकिन काम नहीं है । पर हिन्दी में सर्जनशीलता पनपना मेरे लिए सुखद आश्चर्य तो है ही । इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का रहा है कि मेरी रचनाओं में उर्दू लफ्ज़ों की भरमार कैसे आ जाती है? उनमें से कुछ लफ्ज़ तो ऐसे ही उतर आते हैं । जिनके माइने मैं खुद नहीं जानता हूँ । बाद में जब शब्द कोश में उनके माइने देखता हूँ तो स्वयं हैरतजदा हो जाता हूँ ।"

शायर का यह बयान वाक़ई हमें भी हैरतजदा कर सोचने पर मजबूर करता है कि वो क्या शै है? जिसके बारे में मिर्ज़ा ग़ालिब ने भी यही फरमाया है ।

"बेखुदी बेसबब नहीं 'गालिब'
कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है ।" - मिर्जा गालिब

यही तो वो पर्दादारी है। जो नवनीत जी पर भी मेहरबां होकर ऐसे अशआर कहलाती है । शायद यही सबब है जिसकी वजह से वह जाहिराना जो घटता है । उनका इंकार फर्माते है । और पेचीदा शै को ही एहमियत देकर हमें ज़िंदगी के असरार यानि कि रहस्यों के करीब यह कहकर ले जाते हैं ।

"अल्फ़ाज़ कर सकेंगे कैसे बयां मुकम्मल?
पहचान महज़बीं की पलकों से पूछ लो तुम!"

वैसे भी कोई भी अल्फ़ाज़ कितने भी सज्ज हो, मुकम्मल मफहूम अदा करने में हर हमेशा नाकाम ही रहते हैं । यहां पर शायर महज़बीं की पहचान पलकों से करने का जो दावा करके पलकों को आंख मानी दीद का रूप ही देकर इंद्रिय आरोपण करते हैं । यही तो हुनरमंद फनकार की सही पहचान है । जो इस तरह से रूपांतरण करा सके । आंखों में मूरत बसी हुई होती है । उसके बजाय पलकों को उसका रूप दे देना अपने आपमें कमाल की बात है ।

दूसरे शेर में फिर वे आंखों की दीदाई को नाकाम और नामंजूर कर सपनों को ही रूप दर्शन की यथार्थ भूमिका अता करके शायरी को नया मोड देते हैं । मेरे हिसाब से उनके तन्हा लम्हों ने यही तसवीर खींच कर उनके सामने रख उनके जीवन का रवैया बदल दिया होगा ।

जैसे कि उनके दोनों बेटों की उनके जीवन पर जो गुजरी है । एक ही आहो-फुगां रही है कि ''हमारे पिताजी ने बहुत कुछ आपत्तियों को झेला है । जो खुदा की जानिब से परीक्षण के लिए हुईं, वे तो ज़िंदगी को मांजने के लिए ही थीं । लेकिन जो घात- आघात उनके अपनों ने बेवजह पहुंचाये वे दरअसल बेबरदास्त ही थे । जैसे कि किसी मासूम को मौत बेवक्त घेर कर अपना पंजा चलाए । इन विकट परिस्थितियों ने ही उन्हें हर लम्हा मौत को पडकारने की ताकतें बख्शी हैं ।''

जिसकी मिसालें उनके कईं अशआर में वे पहले काव्य संग्रह ''स्याही भीगे पल'' में हमें दे चुके हैं । लेकिन मंजा हुआ फनकार हर लम्हा कुछ अछूता नया रूप धरकर ही आता है । चाहे उसका विषय या पहलु एक-सा ही क्यों न हो । आइए इसी मकसद को सर करने हम इन शेरों पर गौर फर्मायें ।

''खेलती गर मौत तू यह जंग तो चलता पता ।
ज़िंदगी हर रोज खेले करबला पल-पल यहाँ । पेज...२१

यह शायर मौत को भी पल-पल पडकार उसे चेताते हैं कि हमारी ज़िंदगी ने हरेक लम्हा करबला की जंग खेल जीत का परचम लहराया है ।

जो काम हमीं कर पाये हैं । मौत से बडी बेबाकियत से कहते हैं कि तेरी ये ताकत कहाँ कि तू हर लम्हा रचाती ये जज्बात की जंगे करबला की सोच तक कर पाए । यही खुद्दारी ही शायर को तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें खींचने में कामियाब करती है । इसके कारण में उनकी इस जंग में जो उनके नक्शे –कदम बनते हैं । वे किसी भी वक्त, किसी भी हालत में अमिट और अफर रहते हैं। जिसका सुबूत वह अपनी एक ग़ज़ल ''नहीं'' के मत्ला के शेर में हमें दे रहे हैं । मौत को जंग की दावत देता मेरा हममानी शेर मुलाहिज़ा फर्मायें ।

''सांस का लश्कर तुम्हारे सामने है जंग में,
मौत से टकराव देता हूँ, अभी खेलो जरा ।
- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''
''मंजिलों की मौत पर पथ के निशां रोते नहीं ।
जल्लाद के कर अश्क की माला में पिरोते नहीं ।'' पेज.२४

शायर अपने अनूठे भाषावैभव से छाए जा रहे है । उनका ये ''मरने'' क्रियापद का अंजामवाची प्रयोग मौत को व्यक्ति से हटाकर जब वे किसी स्थल या अवस्थाओं के अवसाद में पिरोते हैं । तब हैरत के फव्वारे फूट निकलते हैं । उपरोक्त शेर में यही नव्य व्याकरण प्रयोग किया गया है ।

ज़हाँ ''मंजिलों की मौत ''बयान करके उन्होंने उस निर्जीव लक्ष्यांकनों की तरफ ताका है । जो शायर के लिए हर हाल में नाकाम और बेमतलब से रहे हैं । यहां कहीं पहुंचने से पहले ही शायर के नाजुक जजबात पर अनेक बार वाराना हमले हुए हैं । जिनके फलस्वरूप शायर यह संजीदा शेर में अपने लाफानी नक्शे बनाकर ही सफर करते हैं । साथ में उन वहशी अमानुषी लोगों की तरफ भी वे इशारा करते हैं कि ऐसे जल्लाद यानि शैतानों के सामने हम हमारे आंसुओं के मोती क्यूँ बेकार में गंवाकर उसकी माला उनके कर में श्रद्धा के रूप में पिरोयें ।

उपरोक्त दूसरा शेर ''नहीं'' ग़ज़ल से लिया गया है । इस ग़ज़ल ने आदमी की हैवानियत और मौत जैसी मौत को भी बेनकाब करने में कोई

कसर नहीं छोडी है । इसके कईं लाफानी शेरों से कुछ शेर चुन कर यहाँ हाजिर करना अनिवार्य है । वरना आप शायर के वे इन्तेहाई जज़्बात से आशना कैसे हो पाएंगे । शेर पर गौर फर्माते रहीए ।

''जानते हैं जां-नवाजी यों नहीं आसां, तभी,
मुफ्त में जां बाज़ अपनी जान को खोते नहीं ।
जज़्बात की हद से गुजर हो जाये कुरबां इश्क में,
हादसे ऐसे कभी हर रोज तो होते नहीं ।
तारीख की आहें अभी तक सुन रहा इमान है,
हैवान भी यूं करबला में ख्वाब संजोते नहीं ।'' पेज.. २४

इनके यहाँ जज़्बात की जो कशाकश है, वह इश्क में जां बाजी से लेकर इश्के- हकीकी की राह में करबला वाली जंग तक हमें ले जाती हैं। उनपे गुजरे हादसों के तसलसुल के बारे में वे भी शायद खमौशी में यूं ही कहते होंगे कि ''जो हमपे है गुजरी हमीं जानते हैं ।'' लेकिन वे अपने हादसात को बडी नाजुकी से शेरों में पिरोकर हमें मंत्र की मालाएं जपने को देते हैं । जां-नवाज के लिए वैसे तो जांबाजियां आसान ही हैं । लेकिन वे यह एहतियात बरतते हैं कि ज़हाँ तक उसका मकसद सही न हो जां बाजी के हंगामें क्यों खड़े करें?

मुफ्त में यानि बेमतलब की यह जंग तो सिर्फ जाहिल और गंवारों को ही मुबारक होती है । लेकिन यह शायर अपने दूसरे शेर में बडी मसर्रत के साथ जज़्बात की हद से उस इश्क में गुजर जाने की थान लेते हैं । जो खुदा की राह में कुरबानियों के अमर नक्शे बनाकर आनेवाली नस्ल की रहनुमाई करें । उन्हें यह भी मालूम है कि आम लोगों के लिए तो ये हादसा ही है, जिसमें मौत उन्हें गले लगाकर उठा ले जाती है । पर यह इश्क के पूजक के लिए यह अवस्थाएं तो किसी जन्नत के जश्न से कम नहीं होती ।

अपने संग्रह में उन्होंने सबसे पहले मौत को पडकारते हूए हर पल के करबला की बात की थी । उसीको अलग अंदाज़ से आखरि शेर में कहकर,शायर एक ही परिस्थिति में उनकी मनोव्यथाएं क्यों अलग अलग-सी होती हैं ।

उसीका उदाहरण दे रहे हैं । यहां पर करबला का पुराकल्पन अपने तारीखी हवाले से लाचार बेसहारा तकते हुए इमान को भी भीतर से हिला रहा है ।

यहाँ तक की वो करबलाई नजारे कि जिनके प्रतीक से शायर की भी ज़िंदगी भिन्न न रही है, वे हैवान जैसे हैवान की भी बरदास्त की हद से बहुत ही दूर हैं । यह इशारा कर कवि अपनी आपबीती काव्यात्मक रूप ही में दोहरा रहे हैं । जब हम यहाँ मौत से टकराव के पडाव पर खड़े हैं । मैं भी मेरे जीवन की यह हकीकत का इकरारनामा अपनी कुछ इन पंक्तियों में आपको देना चाहता हूँ कि मैं और नवनीत जी की जिन्दगी भी एक जैसे इम्तिहानों से गुजरी हैं । भले ही उनके रूप रंग अलग थे । अनुभूतियों के स्तर पे हम दोनों हमहिसास हैं । और लेखनी में हम जज़्बात और हमतसवुर्रात रहे हैं । इसके पक्ष में उनका ये परे- वुसअत सफर कराता हुआ सूरज से भी बुलंदतर शेर मैं पेश करके मेरे एक मत्ले के शेर का शीशा इसके आगे रखूंगा । मुलाहिज़ा फर्मायें ।

''वजूद-ए- खाक क्या बन पाएगा इससे ज्यादा?
सूरज के सामने जलता रहा मशाल की तरह ।'' पेज.. १८

वैसे भी खाकी इंसान आखिरकार जल-मिट कर खाक ही से खेलता है । लेकिन इनके जलने और मिटने के तरीके अलग-अलग होते हैं । जियादातर लोग बदकाराना ज़िंदगी जीकर अपनी जात को नाकामियों की आग में जलाकर खाक हो जाते हैं । जो आग रोशनी के बजाय चारसू अंधेरों के और धुएं के डेरे लगाती है । ये खुदाई मैआर को निभानेवाले बेदार शायर सूरज के सामने भक्ति की अपनी रूह की मशाल दिव्यतर उजाला कर इन्सानी रहनुमाई की खातिर जलाकर खाक हो जाना चाहते हैं । जो वकार सिर्फ भक्ति मशाल को ही नसीब होता है । औरों को नहीं । इसी हकीकत को मैंने भी अपने इलहामी मत्ले के शेर में दोहराई है । जो नवनीत जी की जीवन शैली के बिल्कुल करीबतर है । शेर देखियेगा ।

''कहीं सूरज से जियादा ही जल चुका हूँ मैं ।
हदे- तमाम से आगे निकल चुका हूँ मैं ।''

वैसे इंसा की कुव्वतें मुट्ठीभर खाक से जियादा तो नहीं । इंसा खाकी होने के बावजूद भी अपने खाकी होने का दावा भी कहाँ पूरी तरह कर पाता है । कुछ ऐसे तसव्वुरात भी इनके अशआर पढ़ जागते हैं । जिनको उस्ताद शायर पं. दत्तात्रेय कैफी ने अपने इस शेर में बाकमाल पिरोया है । देखियेगा।

''यूँ अगर देखिए तो क्या कुछ नहीं मुश्ते- गुबार?
और अगर सोचिए तो खाक भी इंसा में नहीं ।''

- पं.दत्तात्रेय कैफी

यह जज़्बात एवम जाग्रति सिर्फ उन्हीं में पैदा होती है । जो ताउम्र उस समर्पण भावमंत्र से ''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें'' बना कर ही इंसानियत का पैगाम देते आए हैं । जो इनके इस शेर में मुनव्वर है ।

''यूँ तो चरण में तेरे क्या मैं करूंगा अर्पण?
मेरी तमाम हस्ती तुझ पर निसार है ।'' पेज. २४

कोई भी इंसान चाहे आम हो, फनकार हो या फरिश्ते की सूरत! इस हकीकत से परे नहीं है कि उसकी ज़हनियत भले रूहानियत से भरपूर रोशन हो या फिक्रमंदी के उरूज पर चमकती हो, अभाव की पीडन, या ज़हनियत के मौसमी बदलाव को रोक स्थितप्रज्ञा में खुदी को आसनस्थ कर पाये । सो उनमें पैदा होते शिकवे, गिले, फरियादें, अधूरापन का अहसास वगैरा, नागवार लम्हों की तासीर ही कुछ सर्जनात्मक परिणाम की तरफ उनको आगे खींच ले जाती है । यही तो बुनियादी आत्मबल रहा है संतों का भी । सो उसी किसम के अशआर से यह शायर भी कहाँ महरूम रह पाए हैं । आइए उनके सवालाना और शिकायत अंगेज कुछ अशआर के आइने में उनकी सूरत को देख आंखों में भर लें ।

''रिश्ते तमाम उम्र जले इंतज़ार में,
ओढ़े कफन चिराग, दिखाकर चला गया । पेज. ११
करें क्या भरोसा समय बेरहम है ।
गई इंतज़ारी, बीता ना प्रहर भी । पेज. १३
जचे जवान इरादे कहाँ से लम्हों के?
सभी ख्याल चूराकर ही पुराने ढ़ाए । पेज. १५

डूबती आग को बचाता है कहाँ कोई?
वलवले राख के कितने सुहाने मिलेंगे । पेज. १७
कभी गौद में खेलते थे वही अब,
खिलौना बनाकर चलाने लगे हैं ।'' पेज. १२

उपरोक्त पांच शेर पंचेन्द्रियों की-सी भिन्न मानसिकता का ही जज़्बाती चित्रण है । वैसे तो पैदा होते ही जीव का रिश्ता अद्रश्य और जाहिराना हरेक शै से बना हुआ होता है । क्योंकि रिश्तों की गांठ बगैर जीवन के सांसों की गठरी नहीं बंधती । यह चाहे एक इंसान का दूसरे से हो, या फिर श्रद्धा के तौर से परम परमात्मा ही से क्यों न हो । अगर ये किसी व्यक्ति से हो तो उसकी आमद का उसके मिलन का उससे गुफ्तगू का उससे आपसी लेनदेन का हर हमेश सभी को इंतज़ार रहता है । वरना यह समय का खालीपन उसे खाए जाता है । इसी मानी को उजागर करते हुए यह प्रबुद्ध शायर अपने दो शेरों में इंतजार संबंधित जो व्याख्याएं करते हैं । वह बडी सोगवार उनही पर गुजरी हैं ।

''रिश्ते तमाम उम्र जले इंतज़ार में,
ओढ़े कफन चिराग, जलाकर चला गया ।''

यह शेर इशारों ही में बहुत गहरी बात कह जाता है । तमाम उम्र उन रिश्तों का जल- जलकर हर लम्हा तन्हाइओं में खाक होते रहना, किसके लिए । वह किसीकी लापरवाही है, या फिर बेवफाई है । जो यूं मुंतजिर को जला रही है । व्यक्ति हो या किसी भक्त के लिए उसका श्रद्धेय ईश्वर?

यह तो केवल शायर ही जाने । पर दूसरे मिसरे में यूं कहना कि **''ओढ़े कफन चिराग, दिखा कर चला गया !''** विधान मौत का संकेत देने वाले कोई लम्हे की और इशारा कर रहा है । वो चिरागधर लम्हा स्वयं कफन ओढ़े अपनी सूरत दिखाकर कवि से तर्के- ताल्लुक कर गया । यह सदमा कोई किस तरह से झेल पाए । आप ही बतलाईए । दूसरे शेर में समय जो कि आंठ पहरों के चक्र से जुडा चकरा रहा है । उसकी तरह कवि की आह का धुआं उठ रहा है । मुसलसल इंतजार की तपस्या में लगी पत्थर स्वरूप निर्जीव अहल्या को भी किसी एक पल भगवान राम ने अपने पांव के अंगूठे के स्पर्श से जीवित कर नवजीवन दिया! अगर यह मुमकिन है ।

तो किसीकी बेतहाशा प्रीत में डूबे शख्स के नसीब में कदी न खत्म होनेवाला वियोग क्यों है । उसका कोई जवाब दे । यह बेजवाब समस्या का कवि का यही जवाब है । बेरहम समय की लगातार घात से इंतजारी की कुव्वतें भी हाथ से गईं । और प्रहर भी साकित हो उसीके सामने पहरेदार-सा खड़ा हो गया । समय और इंतज़ार संदर्भित अशआर को ही नया मोड देकर शायर तीसरे शेर में लम्हों के सांचे की बेहाली पर उतर आए हैं । वे कहते हैं कि लम्हे भी बदकिस्मती से पुराने रीत -रिवाज से कहाँ बाज आकर नयेपन को अपनाने तैयार होते हैं । समय की शायद यही मर्यादा रही होगी कि वह पुराने घिसे-पीटे खयालात की कशिश में ही बंद होकर नये इरादों से नई सुबह जगाने को अपने हौसले नहीं बना पाता होगा ।

यह समय से खयाली तौर पर ही लागू पडता है । मेरे खयाल से यह अनबदली अवस्थाएं कवि के अहसासात की ही निपज होगीं । ज़हां उन्हें सबकुछ पुराना घटिया ही महसूस होता होगा । वैसे भी कवि जो भुगतते हैं वही तो उनकी सर्जनी में तन्हा लम्हों की लकीरें खींचता है । वह फिर स्याही भीगा हो या सुर्खरू हो । यह तो हमारा नजरिया ही पा सकता है । तीसरा शेर जो आग को डूबो रहा है, उसका अंदाज़ आम नहीं आध्यात्मिक है ।

आग का मतलब वह नहीं जिसकी ज्वालाएँ हमें दिखती हैं । कवि भीतर की आग की मिसाल या तो जलते हुए जिगर से, या आत्मा के दिये से हमें देना चाहते हैं । वैसे भी आग आखिर जमकर राख ही तो रूप लेती है । यह खाक अन्य तत्व की नहीं हमारे अवतार घाट की है । इसलिए कवि कहते है कि आग को भीतर तह की तरफ डूबने से कौन रोक पाता है? यह सवाल खड़ा कर हमें दुबारा अपने पुनः अवतरण का पाठ "**वलवले राख के कितने सुहाने मिलेंगे**" कहकर पढ़ा रहे हैं ।

आखिरी शेर कवि आधुनिक युग की पीढ़ियों के बुजुर्गों के साथ नाजायज बरताव की चरम वास्तविकता से जोड रहा हैं । "खिलौना" प्रतीक प्रयुक्त करके वे माँ-बाप को कठपुतलियों का ही खेल समझनेवाली औलादों की और यह शेर कह बडी तल्ख और तंजिया जबान में इशारा कर रहे हैं। अगर यही होता रहा तो रफ्ता- रफ्ता मां-बाप की तौहीन का अंजाम हजारों वृध्धाश्रम को खड़ा कर देगा । यह निश्चित है ।

ऐसा तजर्बा खुशकिस्मती से उन्हें कभी भी किसी वक्त नहीं हुआ। गुरबत को गले लगानेवाले शायर ने अपनी तरक्क़ी के दौर में भी वही फाकाकशी वाला सादगी का चलन अपनाकर खुद को मर्यादाओं में बांध रख, अपनी दो संतानें, गुरूदत्त को डॉक्टर बनाने में, और नीरव को उन्हीं की तरह शिक्षक की कर्मशीलता अपनाने को सही रहनुमाई कर पारिवारिक अविभाज्यता की मशाल जलाए रक्खी। लेकिन फिरभी वह गैरों पर गुजरती अनहोनी को खुद अपने ही सर पे उठाए-फिरने की फितरत से कहाँ बाज आ पाते थे। इसी कारण बुजुर्गों को खिलौना समझ खेलनेवाली पीढ़ियों से वो अपरिचित न हो पाये थे। और इस किसम के अशआर के दरिये इनकी आंखों से बहने लगते थे।

नेक खयाली की अमीरी ही से उनका सफर तंग दस्तीओं में भी साफ-सुथरा ही रहा। संत कबीर की सर्जनी में सराबोर डूबनेवाले शायर को मन का मैल कैसे गंदे कर सकता है। सो उन्होंने अपने अंतर को पाकीजा और सफ्फाक रखकर ही अपने परिवार की परवरिश की है। इसलिए इन्हें ऐसे शेर कहने का अधिकार इश्वर के ही वरदान स्वरूप मिलता रहा है।

''मैल मन का घोंसला गंदा करे,
साफ अंतर से सुहाना घर बने।
सिर्फ इंसां का कहाँ ऐसा वजूद?
इश्वरी -वर से सुहाना घर बने।'' पेज २७

''गालगागा'' के तीन आवर्तन में पिरोई गई यह ग़ज़ल ''**सुहाना घर बने**'' प्रलंब रदीफ से और सुहानी लग रही है। सुहाना आत्म निवास ही शायर ने साधा है, एवम रचा है। इसी कारण वह तप समाधिस्थ हो तन्हा नहीं लेकिन भरपूर जाग्रत लम्हों की लकीरों को खींच दुनिया के पूजा-भाव मंत्र की इन पंक्तियों से करते हैं।

''तू है अपनी आप मिसाल।
तुझको मार सके ना काल।
मैं तो हूँ मछली जल-प्यासी,
कैसे बन पाऊँ संन्यासी?

मेरी गत ना मेरी ताल,
उलझी हूँ मैं अपनी जाल!
तेरा तो अपना चौपाल ।
तू है अपनी आप मिसाल ।
तुझको मार सके ना काल ।''
अबकी बार करूँ मैं पूजा,
अब ना चाहूँ फेरा दूजा!
भटक गया तो राह दिखाना!
जाऊं अटक तो आंख दिखाना ।
तू ज्ञानी तू ही जाने हाल ।
तुझको मार सके ना काल ।'' पेज.. ७९

कुछ यह भी मन की अंतरतम अवस्थाएं हैं । जो हमें अस्तित्व की सारी उलझनों के आरपार श्रद्धाभक्ति का वो सुहाना पंथ भी दिखाती हैं । जिनमें साधक उसके ऐश्वर्य के सामने अपने सारे एब और दोष का इकरार कर अपनी हस्ती ने साधा हुआ वह गलत 'हूँ कार' को मिटाने को अर्चना करता है ।

''तू है अपने आप मिसाल ।
तुझको मार सके ना काल ।''

मुखड़ा स्वयं कवि की आत्मस्थ अवस्था का नाभिवचन है । ''**एक तू ही तू अफर अमर अविनाशी**'' आत्मा की यह गुणवाचीता कविने धर्म ग्रंथों से नहीं, बल्कि अपनी विकटतम अवस्थाओं में, उसका अद्रश्य, अज्ञात सहारा पाकर, हर तौर निजात पाकर ही अनुभूत की है । कवि ने अपने प्रथम बंध में अपनी नाचारी का हवाला मछली के प्रतीक में दिया है । जो किसी जल में बिछाई नहीं, पर खुद अपनी ही बुनी हुई इंद्रियों की जाल में फंसी तडप रही है । कवि ''**मेरी गत ना मेरी ताल**'' की असह्य लाचारी में अपने जडत्व का अफसोस करते हैं । वे यह परिस्थिति में यह भी जानते हैं कि उस महान हस्ती के एक नहीं कई चोपाल हैं । सो उसे कोई काल मार नहीं सकता ।

दूजे बंध की पंक्तियों में कवि अपने लख चौरासी फेरों से मुक्ति की अर्चना कर रहे हैं । वे कहते हैं कि मूरख जीव होने के नाते कहीं वे मुक्ति

पंथ पर भटक या अटक भी जायें, उस वक्त वे उसके इशारे की ही मांग करते हैं । यही तो आत्मसमर्पण की भावोक्ति है । जिसकी ज्योत कविने अपने गीत में जलाई है । इसी समानार्थ को साधते मेरे गुजराती गीत की कुछ पंक्तियों पेश कर रहा हूँ । चूँकि यह कवि भी गुजराती गीत सर्जनी से काफी निस्बत रखते हैं ।

'लख चोरासी फेरानी आ घटमालों छोडीने,
पोढ़ी जाऊं चादर तारां नामनी हुं ओढ़ीने,
एवी नींदर मां के देखुं फरी न हुं परभात ।
इश्वर झंखुं तारो हाथ,इश्वर झंखुं तारो साथ ।'

- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

यह कवि मूलतः गुजराती भाषा के ही सर्जक होने से उन्होंने गुजराती फनकारों की सोहबतों में ही अपने आपको देख-झांच परखने की कोशिशें की हैं । हालांकि उन्होंने गीत-ग़ज़ल दोनों विधाओं पर अपनी हुनर आजमाई की है । उन्हींके ही शब्दों में हम दुबारा यह दोहराते हैं कि ''मुझे मालूम नहीं यह अपरिचित उर्दू अल्फ़ाज़ कहाँ से मेरी रचनाओं में उतर आते हैं ।'' यहां मैं भी हैरतमंद हो के कह रहा हूँ कि हिन्दुस्तानी ग़ज़ल विधा के साथ उन्होंने बडी शिद्दत से प्रकृति की तमसीलात से मानवीय भावनाओं का पूरअसर निरूपण उनकी कुछ नज्मों में किया हैं । जिनकी झलक हमने ''स्याही भीगे पल में ''जगह-जगह पर पाई भी है ।

लेकिन उसी रवानी को और तेज़ धारा देने मैं कुछ पंक्तियों में आपको बहा ले जाना चाहता हूँ । गौर फरमाइएगा ।

''क्यों ''शीर्षकस्थ नज्म में कवि अपने अज्मशुदा सफर के बारे में ठोस आवाज उठाकर आपत्तिओं को चीर कैसे आगेकूच करते हैं । वो नजारा काबिले'-तारीफ़ है ।

''मंजिलें रुसवा रहीं और रासते चलते नहीं!
हम मगर अपने किये वादे कभी चुकते नहीं!
आसमां भी आजकल सोचा करे गमसाज बन,
ना रही उसके सितारों में जवानी की तपन,
जगमगाये प्रात को ऐसे निशां दिखते नहीं ।'' पेज.. १६

कवि अपने मक्कम संकल्प पर अडे रहे हैं । उनकी यह बयानी कि 'मंजिलें रुसवा रहीं ' हमें आश्चर्य में डाल देती हैं । मंजिल को रुसवा करार करने की यह मानसिकता अनुभूति के कौन से स्तर से बोलती होगी । जिस जगह की तहजीब और तमद्दुन नाकारा और पतित हो । उसे रुसवा करार करार करने वाले यह शायर नारवां यानि कि ठहरे हुए रासतों पर भी ठोस कदम आगे बढ़ने को बेफिक्र निकल पडे हैं । यह बेफिक्रापन ही खुद में खोई हुई दीवानगी का दूजा स्वरूप है । कवि को कहाँ कोई फिक्र है कि उनपर रुसवाईयां अपना घेरा करेंगी ।

वे भले ही मुस्तकील हो आगे बढ़ रहे हैं । वे उस परिस्थिति की वास्तविकता से गाफिल तो नहीं है । यह मनहूस,नागवार, मायूसियां पैदा करनेवाले तत्वों से उनके मुकद्दर का आसमान भरा पडा है । अपनी इस दशा को कवि आसमां, रात, सितारे और प्रात के प्रतीकों से उजागर कर नज्म को ऊंचाईयों पर ले जा रहे हैं । एक ऐसे आलम में वो चल निकले हैं! ज़हां शबभर सितारों की जवाँ तपन का कोई आसार तक न हो । जिसके परिणाम स्वरूप आसमान भी अमावसी रात के अंधेरों की गिरफ्त में गमसाज हो गया हो । सितारों की जगमगाहट के निशां तक ज़हाँ दफ्न हो चुके हो । तो ऐसे आसमानी कब्रस्तान में सोया हुआ सूरज भी कैसे दुबारा जाग सुबह को जगा कर रोशन करे ।

यह अंधेरी वीरानीयां आसमां के बिंबो में उजागर कर कवि व्यक्तिगत अपनेआप से लेकर समस्ति की बेहाली का निरूपण कर रहे हैं । इन नकारात्मक कडियों के बीच उनका निश्चयात्मक सफर ही हमें हौसलों की रोशनी इस शेर की मानिन्द देता है ।

''मैं अकेला ही चला था जानिबे-मंजिल मगर,
लोग आते ही गये और, कारवां बनता गया ।''

या फिर ''तेरी कोई पुकार सुनकर न आए तो राही अकेला ही चल पड ।''वाले पडकार की गुंजें कवि की खामोशी में हमें सुनाई दे रही हैं । यहां पर रूके हुए साकित रासतों की इज्जत भी कवि मेरी इन पंक्तियों की मानिन्द बढ़ा रहे हैं ।

"दरो-दीवार से बांधी न जाती है कभी उल्फत ।
कदम रुक जाये तो होती कहाँ है, राह की इज्जत ।
जुदाई में हुआ है वस्ल का आगाज़ मेरे दोस्त ।"
- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु"

इक और इन मंजरों को कवि ने नुमायां किया हैं । जिनमें रात की कायनात को रोशन करनेवाले सितारे स्वयं ही बेजान हो गए हैं । जिसके असर में आफताब भी अपने प्रागट्य से मुंह मोड रहा है । "स्याही भीगे पल" में भी कवि ने एक ही विषय जैसे कि "वक्त" को हरेक मिसरे में दोहराकर उसके अनगिनत पहलुओं का उजागर किया था । जैसे कि वक्त का ही श्लेष अलंकरण हरेक मिसरे में होता चला था । कवि की यह खासियत है जिससे हम तगाफुल नहीं बरत सकते कि यहाँ जब राह का संदर्भ अलग-अलग तरीके से हम खोल रहे हैं । तो कवि का एक गीत जो "राह" शीर्षक के तहत कहा गया है । उसकी चंद पंक्तियाँ यहाँ पेश कर राह का जिस नायाब अंदाज़ से सजीवारोपण किया है । उसके हर रंग को हम हमारे चैतन्य में भरना चाहेंगे ।

"राह रूकती नहीं, राह चलती नहीं ।
ना गिरे, ना रूके,राह खलती नहीं ।
राह का रंग फीका ना हुआ कभी,
लाख कसमें टूटी, लाख वादे झूठे,
ना तो बेवा बनी, ना बूढ़ी, ना जवाँ,
बनकर दुल्हन कभी निकलती भी नहीं ।
राह की आह सुनता नहीं कोई भी,
राह से चाह राही करे ना कोई भी,
राह खिलकर ना खुले प्रात-सी,
राह काली निशा-सी भी ढ़लती नहीं । पेज.. ४९

उपरोक्त रचना वैसे तो तवील है । लेकिन इन दस पंक्तियों में कवि ने राह का मानवीकरण कर उसे मुअन्नस करार कर- नारी की शख्सियत बख्शी है । कवि ने नारी के जीवन में बदलती कई परिस्थितियों का सुखद

और दुखद एवम चिरस्थायी विवरण को राह के रूपक में ढ़ाल यहाँ बयान किया है । राह का अविरत एक ही असल स्वरूप में अछूता होना, कवि के लिए फख्र की बात है । राह का न कभी दुल्हन बन बियाही होना, या बदकिस्मती से बेवा होना । ना जवाँ या बूढ़ा होना । कवि के मक्सद इरादों का ही फलसफा है । राह में आह की आहंग पैदा कर इक निर्जीव में जो ध्वनि प्रयोग कवि ने किया है वो डॉ. इकबाल की आह से हटकर है । ज़हां इकबाल आह के बारे में दिल ही की मायूसी की शिकायत के जज़्बात पैदा कर रहे हैं । यूं कहकर कि -

''आह जो दिल से निकलती है, असर रखती है ।
पर नहीं ताकते-परवाज मगर रखती है ।''

मगर यहाँ कवि के लिए तो राह की यानिकि माध्यम की आह तो बेअसर है । क्योंकि उससे कोई भी बानिस्बत न होने से उसको सुन किसीमें कोई अनुकंपन जगता ही कहाँ है । राह के विरोधाभासी परिमाणो को जोड नव्य व्यंजना कवि ने सार्थक की है । इक-दो और नज्म से गुजर कर हम उनकी ग़ज़लों के नवरंग से रंगना चाहेंगे ।

निम्न नज्म में कवि उनकी पामाली के असबाब को जाहिर कर दुनिया में घटते हादसों का जिम्मेदार स्वयं पालनेवाले को ठहरा रहे हैं । इस जगह पर हमें गुजराती के राजवी कवि कलापी की यह पंक्ति याद आती है ।

''जे पोषतुं ए ज मारतुं !'' या फिर यूँ कहे कि **''कौन उसके छेद नापे, शब्द को तो - शब्द ही काटे,''** का ही पुनरावर्तन हो रहा है ।

''मेरा नसीब खुद मुझे मझधार ले गया ।
लेकिन नजर चुराकर ही पतवार ले गया ।''
क्यों अनगिनत बनाये ठिकाने निगाह ने?
बदले मिज़ाज-दां को थमाए निकाह ने ।
जब इंतजार में गुल खड़ा था राह में,
तो आशना-ए-रंग हो गुलज़ार ले गया ।'' पेज.. ३४

नसीब की करनी ही तो लम्हे-लम्हे भुगतते है । जिस तरह यह सनातन कथन है कि ''क्या तेरे हाथों में आए क्या तू लेकर जा सकता है!'' हम सभी जानते है कि पत्ता भी नसीब के मगर नहीं हिलता । शायर कहते हैं कि उनका

नसीब ही किनारे से मझधार ले गया । वहां तूफान का सामना करने के वक्त वही उसका तारणहार नसीब उसका पतवार चुपके- से चुरा ले जाकर के उन्हें बेहाल निराधार कर गया । यह मंजर शायद वे अपनी जवानी में हुए हादसात की तरफ हमें मोड ले जाते हैं । ज़हां पर बेलगाम निगाह एक केन्द्रीय होने के बजाय अनगिनत ठिकानों पर अपने तीर चलाती है । उस वक्त बदले मिज़ाजी को निकाह की गिरफ्त में बांध एक जगह पर मजबूरन थमने की सजा दी गई । यहां तक तो कवि ने सह लिया । पर बनाम गुल जब वह किसी मासूम रेशमी शै का इंतज़ार कर रहे थे । तब बदकिस्मती से उनके रंगों की पहचान को स्वयं गुलशन ही लूट गया । यानि बहारों के इंतजार में मौसम-ए बहार ही उन्हें वीरान कर गया । निगाह,निकाह, गुल और गुलशन के प्रतीकों में यह कवि गहरी खस्ताहाली का बयान कर रहे हैं ।

कवि ने फाके भी किए हैं । भूख और प्यास को लम्बे अरसे तक सहन किया है । यही तो फनकार की नियति है । उससे कोई परे कब हो पाया है । सर्जन की प्रक्रियाएं और उसके परिणाम के बारे में कवि कितनी संजीदा आवाज़ लगाते हैं । निम्न पंक्तियों में हम सुनना चाहेंगे ।

''शब्दों की रोटी ना भूख मिटाती है ।
दिल की प्यास बुझा दे सच्चे भाव मगर ।
चिल्लाकर न दु:खड़े अपने रोने हैं,
मरी हुई न रखनी है आवाज मगर ।'' पेज. ५७

शायर बुनियादी तौर पर आवाज़ की अर्थात् नारे की क्रांति के ही शायर है । सर्जनी के तकाजों की सरापा पहचान उन्हें हैं । शब्द तो भूख की ही नैमत दे सकते हैं । भले ही सच्चे भाव दिल की प्यास लबालब बुझा क्यों न दे । शायर के नसीब में तो हर हाल में भूखे पेट ही सोना है । वह चाहे उसकी झोंपड़ी हो या फूटपाथ । लेकिन यह शायर अपनी आपबीती पर छाती कूट रोनेवाले शायर तो नहीं है । जो चिल्लाकर सरेआम दु:ख दर्द रोए। पर यह वे शायर है जो अपनी हकबात के लिए क्रांति के नारे लगाये। कवि यह भी चाहते होंगे ।

''फूटपाथ पर मैं सो सकूं सबकुछ उतारकर,
नैमत वो भूख-प्यास की दे दे मेरे खुदा ।''

शायर ने अपने हर दौर में हर हाल हकीकत बयानी को और संगीन दौरे- हाजिर के लिए अपनी आवाज़ें बेझिझक लगाई हैं । इसकी तरफदारी में उनके कुछ अशआर मुलाहिज़ा फर्माए ।

''गर पांव जवाँ पड जाए तो हस्ती भी थर-थर कांप उठे,
बोने - बेकार प्रहारों से पर्वत कैसे हिल जाएँगे?
कुछ ठोस अगर पाना है तो ठोस बनो पहले तुम भी,
बन राख पडे हर सपने के भीतर कैसे, कील जाएंगे?
झीर्ण तुम्हारी किस्मत पर पैबन्द लगे शायद कोई,
फटे हुए अरमानों के आंचल कैसे सिल जाएँगे?'' पेज.. ६४

''गर पांव जवाँ पड जाए तो'' शर्तवाची यह विधान जवाँ पांव को मजबूती से लक्ष्य ताकने वाले जुनून के रूप में ही स्वीकार कर रहा है । एक ऐसा जुनूँ जो अपनी बेखुदी में परबत जैसे परबत को भी हिलाके रखे। इसी मानी का मेरा यह परबत को निशाना बनाने वाला शेर पेशे-खिदमत है।

''अगर फनकार है तो रूह की परवाज की खातिर,
तू सूरज होके टकरा जा कहीं ऊंचे पहाड़ों से ।''
- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

नवनीत जी भी रूहानी परवाज के ही फनकार है । लेकिन वास्तव के फलसफा से वे कहीं पर भी मुकर नहीं जाते हैं । इसी कारण तो वे फर्माते हैं कि राख बने सपनों के भीतर जींदगी की ठोस कर्मीता के बगैर कोई कहाँ से कील पाएगा । यह बलंदतर सोच के हासिल वे केवल अपनी अनुभूतियों का सहीह समय पर साक्षात्कार करके ही हुए हैं ।

अंतिम शेर में भाग्य जो अफर है । उसमें झीर्णता पैदा कर उसमें पैबन्द लगाने की हकीकतें उन्होंने पैदा कर, शायरी को जिस कद्र जिद्दत से नवाज़ा है । वह हमारी सोच से परे है । भाग्य तो सिल भी सकता है । लेकिन फटे हुए अरमानों को सिना कवि के लिए ही नहीं हरकोई के लिए नामुमकिन है । अगर यही सच है तो आपको अमने अरमान मुकम्मल रखने के लिए दिलो-जां लगा देने चाहिए ।

कवि नामुमकिन भाग्य का सिना मुमकिन कर दिखाते है । इसी लहजे में वे अपने जनाजे के बाहर भी आंख लगाये जनाजे की शाही सवारी देखना चाहते हैं । यह तखय्युल बडा अजीब होने के बावजूद दिल को गुदगुदाता है ।

''निकालो जनाजा कफन के बिना ही,
हमें भी हमारी फ़तह देखना है ।'' पेज ६३

शायर उसूलों की राह पर हर लम्हा शहीद होते जा रहे हैं । यही वजह है उनके ''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरों की'' । वे चाहते हैं कि जिस तरह उनका अवतरण नंगा हुआ है । जिस तरह उन्होंने बेलिबासाना कर्मभक्ति की है । उसी तरह उनका आखिरी सफर भी बिना कुछ ओढ़े सरे -आम शाही दबदबा से निकलना चाहिए । उनके मत से कफन तो वही ओढ़ते हैं जिन्होंने बदकाराना ज़िंदगी जी हो । और जो मुंह छिपाये ही दुनिया से रुखसत फर्माना चाहते हो । जनाजे का यह नजारा हरेक के नसीब में नहीं होता । जियादातर शायर लोग इसमें जिद्दत के लिहाज से शिद्दत भरने अपनी मैयत पर भी अपनी खुदमुख्तारी जताकर, अपना जनाजा खुद अपने ही शाने पे उठाये चल पडते है । बतौर खास इसके यह शेर देखियेगा ।

''कांधे पे उठाये हस्ती का जनाजा,
हम खानाबदोशों की तरह घूम रहे हैं । - अजीज वारसी

जनाजा प्रतीक का इस्तेमाल व्यक्ति के बजाय यह शायर बडी बेबाकियत से बंदगी के लिए कर रहे हैं । शेर का मुआयना करते आप भी यकीनन चौंक उठेंगे ।

''रहा बंदगी का जनाजा वीराना,
खुदा के बंदे बडे बेकसक थे ।'' पेज ७८

खुदाई अकीदत की नुमाईश करने वाले बेजान बंदे दर हकीकत उनकी बंदगी के तमाशों से खुद बंदगी का ही कत्ल कर उसका जनाजा निकाल रहे हैं । यह नागवार बंदों की ज़हालत शायर को आग बबूला कर देती है । इसके इशारें कबीर से लेकर हर दौर के बेदार शायरों ने बेधडक किये हैं । वैसे भी इन्कलाब के तरफदार यह शायर को कौन रोक सकता है । ना ही जमाना, ना ही सदियाँ ।

शायर बंदगी का जनाजा अपने शेर में निकाले शेरियत को जो जिद्दत बख्श रहे हैं । उन्हीं करामतों से ऐसे कई अशआर उन्होंने कहे हैं । यहाँ कुछ वरक पलटके कफन की मिसाल को इन्होंने किस तरह घूमा-फिराकर आजमाया है । उसकी तरफ दो निगाह डालें हम दुबारा जीवित हो जाएं ।

''तमन्ना है उन्हें मुर्दों को कफन देने की,
तो रोक कर सांस, यही साजिश करूँ मैं पेज.. ७५

''मैं'' शीर्षकस्थ ग़ज़ल का यह शेर मानव जगत की झूठी बनावटी व्यवहार शैली पर कड़ा तंज कर रहा है । जो दुनिया जीतेजी किसी बेलिबास को वस्त्र का टुकड़ा देने को भी राजी नहीं होती । वही मरने पर फौरअन कफन ओढ़ाकर अपनी इंसानियत का जाहिराना गलत दावा करने हाजिर हो जाती है । कवि तंजिया तौर पर यह कहते हैं कि अगर एक ऐसा कफन जीतेजी मुझे भी नसीब हो जाए, तो मैं मेरी सांस चंद लम्हे रोक कर मरने की साजिश क्यों न करूँ । वाह कविराज आप तो समाधियोगी की तरह सांसो को भी रोक-मात दे पा रहे हैं । अब यहाँ पहलेवाली ग़ज़ल 'थे' के एक-दो और शेर देखियेगा ।

''लकीरों की परवाह करे क्यों फकीरी?
सबब को पता क्या अडे बेवजह थे ।
बेवा कदम साथ दें भी तो कैसे?
तन्हा डगर में खड़े बेअसर थे ।'' पेज ७८

शऊर की बदौलत पैदा हुई शायरी भी अगर फिक्रमंदी की रिवायती लकीरों में कैद हो जाए । तो उसके मानी क्या? शायर अपनी अक्खड़ फकीरी में बेवजह ही पेश आते थे । सो सबब भी लाचार मुंह ताकता रहा, कि यह क्या माजरा है । और इसका सुलझाव भी क्या हो सकता है? शायर ''बेवा कदम'' कह कदम के आगे बेवा यानि विधवा विशेषण लगाके उसे सामाजिक लाचारी के घेरे में डाल रहे हैं । जिसे न तो कहीं जाहिर होने का अधिकार है । न ही किसी और चलने का । क्योंकि हर कोईने जो उन्हें ठुकरा दिया हो, वैसे तन्हा डगर में वो क्या अपना जोश दिखा पाएँ । सामाजिक गैर रीतिओं के सामने यह बहुत बडा तंजिया पडकार ही है । शायर का यह बेफिक्राना अंदाज़ उनकी गुरबत की अमीरी से और वीरानों

के खजानों से है । जिसकी मुहर यह रात-रातभर अपने जानो दिल को सियाही में जलाने वाले शायर अपने इन अशआर पे लगाते हैं । गौर फरमाइएगा ।

''वीरानों के किनारे पर बनाया घोंसला हमने ।
जवानी को नया फिरसे दिखाया हौसला हमने ।
जले रहकर सियाही में सदा उगला उजालों को,
नहीं यूं ही फकत कायम किया है सिलसिला हमने ।
रचाए ढ़ेर ना सपने, बने ना भीड के साझी,
हमारी गुरबतों से है बनाया काफिला हमने ।'' पेज.६६

''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरों'' का यह वीराना मिज़ाजी शायर, कैसे आबादी के भरचक किनारों पे अपना मुकाम कर सकते हैं । दीवानगी का हर सफर मजनूँ की तरह जज़्बात के रेगिस्तान में ही अपनी इबादत को होता है । वही रूख, वही अंदाज़, और वही मिज़ाज शायर ने अपनी गुरबत को ओढ़े, अमीरी की सांस सींचे, जवाँ धडकनों में ही रक्स करते हुए, हरेक लम्हे को जवानी की कसक में पिरोया है । यही तो हौसला वह जमाने के अहसासे - कमतरी में घुटते हुए अवाम को देने की खातिर ही वे रात रातभर अपनी आंखे जलाकर सियाही में भी उजालों ही उगलकर अपनी फन्नी इबादत का सिलसिला कायम करने में कामियाब हुए हैं । इनका और हमारा सलीका-ए-फन एक- सा ही होने की वजह से हमारे अशआर भी हममानी की उतर आते हैं । मिसाल के तौर पे चंद अशआर पेश कर रहा हूँ ।

''कभी कागज़ पे शोला, तो कभी शबनम बिछाएगा ।
वो अपने फन का मालिक है, वो रातों को जलाएगा ।
वरक तमाम जलाने पडे हैं आंखों में,
तमाम रात जली कागज़ो-कलम के लिए ।''

- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

उजाले को उगल घर से ही नहीं अपनी रग-रग से मिटानेवाले यह शायर समाधि की तह में अंधेरी गुफाओं में बसेरा करते है । यही वजह है कि उनके तसव्वुर का काफिला जो तसव्वुफ़ की ही रहनुमाई में चलता है।

उसने न तो सपनों के ढ़ेर सजाए हैं । न ही भीड से वासता रखा है । यही तो असबाब होते हैं । सूफीयाना सफर के मुसाफिर के । यह ''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें'' खींचना वाले शायर की रातों की सुर्खियाँ उन्हीं के शेर से चलो हम भी अपनी निगाहों में भर लें ।

''उखड़े हुए मिजाज से है दिन ढ़ला पूरा,
घोली तमाम रात ने है सुर्खियां तभी ।'' पेज. ४९

शबे-तन्हाई की यह सुर्ख़रू लकीरों ही से तो शायर के तसव्वुरात रंगीनियों से भर सके हैं ।

उन्होंने शायरी में भले वास्तववाद की तंगदिलियां और अत्याचार की लकीरें खींची है । दरअसल वे रूह के ही जज़्बात की परिन्दाई कर अपनी आसमानी परवाज करते रहे हैं । बनिस्बत उसीके कुछ अशआर बेलोसी से परिन्दे की मिसाल को ही उजागर कर उनके पर फडफडाते हैं ।

मिस्लन इनकी और आप निगह डालिए ।

''नभ में ना खींची दीवारें तरकट से ।
टिक पाया विश्वास तभी परिंदों का ।'' पेज. ६७

यह शेर निहानी तौर पर हमें पूर्ण मानवीय होने का ही संदेश देता है। परिंदों की श्रद्धा और समझ कितनी संजीदा होती है कि वे अपने सफर में न एक-दूजे से दीवारों के फासले रखते हैं । या इंसानों की तरह दीवारों में ना बट जाते हैं । ज़हां आपसी दीवारों का ही चलन हो । वहां आपके खयालों की, पारिवारिक श्रद्धा और भक्ति की नींव कैसे डाली जाए । यह पैगाम इस फरिश्ते ने अपनी जुबानी में यह गाकर दिया होगा कि

''जरूरी ये नहीं कि तुम जमीनो-आसमां समझो ।
अगर जीना है तुमको तो परिंदो की जुबां समझो ।''

मानव की दरिंदगी से भी यह पूरे वाकिफ है । ताउम्र जिन्होंने हैवानियत को ही झेला हो वह लम्हे-लम्हे की मसर्रत को कैसे भीतर झूला पाए । शायद इसपर उन्होंने जराए सर्जनी कामियाबी हासिल की भी हो । पर वे अपने जज़्बात से उसका सदमा कैसे निकाल पाए । बाइस इसीके यह फरिश्ता मरघट में जाकर अपना बसेरा कर फन की इबादत यूं कर रहे हैं।

"पल सकता है कैसे पलना पल-पल का?
दौर चला है दल-दल में दरिंदों का !"

शेरियत के लिहाज से उन्होंने एक ही शेर में तीन अलंकार को प्रयोजा है । वर्णनात्मक, पल -पल और पलना एवम दल दल-दल और दरिंदों का वर्णनुप्रास, साथ ही में पल क्रियापद के सामने पल -पल का श्लेष रचकर श्लेष अलंकार भी अलंकृत है ।

"शयतानी फितरत पलती हर शख्सों में,
है ठिकाना मरघट में फ़रिश्तों का ।" पेज.. ६७

अंतिम शेर दुनियावी शयतानियत को जाहिर करता तो है । लेकिन उसका भाषा व्याकरण हमें एकवाची और बहुवाची का भेद मिटाने को "शख्सों" के आगे हर लगाकर उसकी याद दिलाता है । कि कईं एक शयतान में अनगिनत शयतान पडे हैं । ईस उक्ति की तरह वह भी कहना चाहेंगे ।

'तू पैगामे दानिश है पर तू नादां है भूल नहीं ।
तुझ में समाए लाख पयंबर तू शैतां है भूल नहीं ।'

यही सारार्थ को आगे बढ़ाते हुए वे अंधे भक्त और हठधर्मी को अपने रिंदाना मिजाज से यूं फिटकारते भी हैं ।

"पाक नहीं दिखता है चेहरा हठधर्मी का,
जलवा तो बस साफ दिखे अब रिंदों का ।" पेज...६७

उस्ताद शायर जिगर मुरादाबादी के ही मिजाज से शायद अभिभूत होकर नवनीत जी ने हठधर्मी की आड में धर्म उपदेशकों को लाल आंखें दिखाई हैं । इनकी आंखों का यह पाक रौशन जलवा देखिएगा ।

"मुझे उठाने को आया है वाइज़े-नादां,
जो उठ सके तो मेरा सागरे-शराब उठा ।
किधर से बर्क चमकती है देखें ए वाइज ?
मैं अपना जाम उठाता हूँ, तू किताब उठा ।"

जिगर साहब का यह अंदाज़े-बयां सबसे अनूठा है । वाइज जो जिगर

से बादाकश को महफ़लि से उठाने आए हैं, उन्हें जिगर पडकारते हुए उनके जाम उठाकर दिखाने को मजबूर करते है । हालांकि इन पोथी पंडितों में वह जमीरो-जर्फ होता ही कहाँ है । जो इक डूबे हुए शराबी अर्थात् नशे में वज्द हुए फनकार में हो । इन्हीं खयालों को अपने-अपने तरीके से अंजाम देकर गुजरात के कई शायरों ने कोशिशें जरूर की हैं । पर जिगर की- सी बयानी अपनी शिद्दत में न ला पाए हैं । इक शेर मिसाल के तौर पर मेरे उस्ताद जनाब राजेन्द्र शुक्ल जी का तरजुमाशुदा शेर मैं पेश कर रहा हूँ ।

''पंडित जी गर थके हो, तो अब मैं ग़ज़ल कहूँ,
आया थ लुत्फ़ आपके इल्मो-बयान में ।'' - राजेंद्र शुक्ल

खुद्दारी और बेदारी का यह सफर अनगिनत मोड से मुडकर, अनगिनत पडाव पर तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें खींचकर मुख्तलिफ नक्श करता चला है । जिस तरह से ज़िंदगी एक रंगीं नहीं नव रंगों की ही तस्वीरें खींचती है । कुछ इस तरह नवनीत जी भी अनेक रंगों के बिंब शायरी के आइने में हमें दिखाते चले हैं । हरेक में या तो वास्तव का फलसफा हो,या तो अध्यात्म रहस्य के फलसफे की बारीकियां नजर आती हैं । हम इन रंगों में भी नहाये तो कैसा होगा ।

''मेरा दर्पन मेरे होने की निशानी मांगे ।
प्यास देकर ही मुझे, मुझसे ही पानी मांगे ।'' पेज ६८

शायरी में अक्सर बिंबसाजी के लिए कुछ अलग-से आइने दिखलाने पडते हैं । यह वरदान या तो जनमजात अता पाया जाता है । या फिर अपनी अनुभूतियों की सच्चाईयों के ही अंजाम से यह हासिल होता है । प्रस्तुत शायर में मेरे खयाल से यह दोनों सबब घुलमिल कर सामने आए हैं । उपरोक्त शेर हमें और कोई नहीं हमारा भीतर का आत्मदर्पन हमें दिखा रहा है ।

जो दर्पन हमारी बदनीयती से और बदकाराना किरदार ही से, हमें इंसानी सूरत में कुबूल फर्माने से मना कर रहा है । इसी लिए तो वह हर सतकर्म की प्यास से हमें तश्नालब रखकर, हमारे जमीर की पवित्र गंगा से बहनेवाला, या आबे- जमजम का पानी मांगे हमारा इम्तिहान ले रहा है । जब तक आप इंसानी उसूलात का पालन न करे आपके बनावटी चेहरे को भीतर

का आइना कब कुबूल करता है । वह तो यही अंजाम चाहता है ।

''जबकि पहलीबार तेरी रूह ने चाहा तुझे,
कितने फीके पड गए चेहरे तेरी औकात के ।''

नवनीत जी ने कहाँ झूठे मोहरे लगाकर अपनी आत्मा को छला है । सो उनका एक असली चेहरा ही ताउम्र फन की रोशनी बिखेरता रहा । अब यहाँ से मुडकर हम ''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें ''के आखरी पडाव की और बढ़ते हैं । वहां से व्रज भूमि में जा ठहरेंगे । वैसे तो नवनीत जी का सफर लाफानी ही रहा है । और रहेगा । लेकिन बीच सफर हम रूकते-रूकते उनके कुछ और स्वाद का शेरों में मक्खन चाटे । उनके एहसासात ने कभी कभार इस तरह जज़्बात के गहरे खाली पाताल कुंए में उनको डाल दिया है । कि वे कुछ भी अल्फाज़ में बयान करने की नौबत से भी हाथ धो बैठे हैं । यह शेर उस शिकायत की परेशानी को जाहिर करेगा ।

''कैसे करें लफ्ज़ उनका बयां भी?
खाली कुंए अब लहर ढूँढ़ते हैं ।''

इसी ग़ज़ल एक और शेर भी इसी मफहूम के काबिल है । सो चलो उसे भी पिरो लें हम ।

नहीं जानते ना मिले हैं अभी तक,
पते का पता ना मगर ढूंढ़ते है । पेज. ४६

यह बाकमाल शायर एक ही लफ्ज़ को दोहराकर उसके मानी का अजब विस्तार करने का अजीबोगरीब हुनर रखते हैं । यहां ''पते का पता ना मगर ढूंढ़ते हैं ।'' के विधान में वो कौन-सा अपरिचित और लाहासिल पता है जिसको ढूंढ़ने से कवि बेफिकर है? यह अंदाज कलंदराना मस्ती का नहीं तो और क्या है? दो अछूते अशआर इनके ''स्याही भीगे पल'' से जो ''तन्हा लम्हों की लकीरें'' खींच रहे है! वे कुछ अटपटे होने के बावजूद भी हमें संगीन जीवन का बोध प्रतीकात्मक शैली में दे रहे हैं । चलीए हम भी हमारा ज़हन उन्हीं में पिरोये ।

''हवा की उंगली पकड़ चलो तो, कभी किसीको गिला नहीं।
मगर चुराकर नजर चलो ना,ऐसा कोई सिलसिला नहीं ।

जीता सिकंदर,पुरू न हारा, समझ सका जो, वही सयाना,
सदा अजय ही रहा जमीं पर, ऐसा कोई गढ़-किला नहीं ।''

पेज.४३

''हवा की उंगली पकड़ चलो'' हवा की उंगली पकड़ने का करिश्मा कवि का अपना ही आविष्कार है । प्रकृति के तत्व जैसे खुशबूएं, पत्ते, या गर्द-ओ-गुबार, से लेकर समंदर की मौजें और बादल तक हवा की उंगली को थामे ही अपना सफर आसानी से करते हैं । पर उपरोक्त शेर में शायर हवा यानि कि सांस नहीं पर मिथ्या शोहरत की और इशारा करते हैं । जिसकी दूसरी पंक्ति में यह भी कहते हैं कि ऐसे लोग नजर चुराकर चल दें । तो किसीको क्या गिला हो सकता है । पर वे तो जानबूझ कर सरेआम तमाशा कर तमाशाइयों की भीड लगाने को बेचैन रहते हैं । दूसरा शेर ज़िंदगी की जंग की तासीर अलग तरीके से बनाता है । जैसेकि महाभारत के युद्ध में पांडवों के जीतने के बाद भी उन्हें अपनी जीत का नहीं पर हार का या कुछ भी न पाने का, और सब कुछ खो देने का ही अहसास हुआ था । कुछ इन्हीं नजारों को शायर सिकंदर और पुरू के पौराणिक पात्र में दोहराकर हमें नसीहत देते हैं । कि आपके कितने बडे और मजबूत महल या किले हो । उनका पतन निश्चित ही है । मुझे भी यहाँ यह चेतावनी देने को जी करता है कि..

''अपनी गिनती ना सिकंदर में रख ।
जो तमाशा है उसे घर में रख ।''

आखिरकार घाट, घट और घटनाओं का भेद ही कहाँ रहता हैं । दुर्भाग्यवश हम उनकी एकरूपता को आदिकाल से कहाँ समझ पाए हैं । जिसकी बुनियादी गहरी सोच इस तजरबाकार ने पाई है । सो इन अशआर की सुर्खरू लकीरें वे बडी ही आसानी से खींच पाए हैं ।

''घट भी गया, घूंघट भी रहा ना ।
घटा-से उमडकर कहाँ अब बहे भी ।'' पेज..६१

अनहद विस्तार को समेटे हुए यह शेर हमें न जाने कौन से तत्व के दरिया में बहा रहा है । घट, घूंघट तथा घटा के ये ''घ'' वरण के प्रतीक हमें गर्दिशे-हयात में मानो न घूमाते हो! ऐसा ही महसूस होता है । घट का

तो पिघल बह जाना, और ऊपर से उस आसमान के घूंघट का भी ओझल होना, किसी घटा स्वरूप लबालब जल भरे तत्व के लिए कितना ही सोगवार होगा । जिसको अब न किनारा हो न कोई छत का आसरा ।

शायद यही परिणाम हम सब की ज़िंदगी से जुडा हुआ है । इसी लिए तो हम अस्तव्यस्त होकर एक-दूजे से उलझते हैं । टकराते हैं । और कभी किसीको समझ तक नहीं पाते हैं । हम चाहे इन्तहाई कामियाबी हासिल कर क्यों न मील का पत्थर हो जाएं । फिरभी हम एकदूजे से फासला ही बनाए रखने को बेताब रहते हैं । जब यही आलम है तो दरबदर ठोकर खाते पैरों का तो क्या हाल होता होगा?

''मील के पत्थर भी मिलकर खुद चाहे दूरी से मिलना,
दर-दर ठोकर खाते दिल के पैर जमाने देगा कब । पेज.८०

शायर की नवाजिश के लिए अब मेरे दिल की धडकनों का खजाना भी कम पड रहा है । यह मुकम्मल धडकते दिल को सीने से लगानेवाले शायर दिल को व्यक्ति बनाकर उसमें पैर का प्रत्यारोपण कर कैसा सजीवारोपण करते हैं । जिसको सुन हमारे दिल के पांव भी धडकनों की राह चल पडते हैं । चलो आखिर में हम उनकी धडकती भक्ति की मशाल थामे व्रज की दिशा में जाकर मक्खन चाटने का त्योहार मनाए ।

इस अंतिम सफर में शायर गीता के उपदेश के अध्याय को रटते-रटते हमें ले जा रहे हैं । इस अध्यात्म के पंथ पर कुछ शर्तों से हम वे बांध कर ही हमें जोड रहे हैं । वे कौन- सी शर्तें हैं । उन्हीं की ही ''ना समझ'' ग़ज़ल के इन अशआर में हम पाएंगे ।

''खुद को तू ना खुदा समझ ।
जड-चेतन को जुदा समझ ।''
मौत नहीं है चिर-स्थायी,
पलभर का अलविदा समझ ।
नवनीत है ना छांड उसे,
मंथन को संजीदा समझ ।'' पेज. ३२

सात गुरू वर्ण की यह कबीरी दोहाई ग़ज़ल हमें हमारे अस्तित्व की असलियत के आसपास परिक्रमा करा रही है । मूलतः इसका इशारा अहम्

ब्रह्मास्मि रूचा को गलत तरीके से लेकर अहंकार में अचेत हुए मानव को चेताने को ही जगमगा रहा है ।

''खुद को तू ना खुदा समझ ।
जड -चेतन को जुदा समझ !''

कहकर खुदा होने के दावे करनेवाले अहंकारी जन को वो सचेत नहीं पर अचेत ही करार करते है । कवि के लिए अहंकार ही स्वयं मौत का स्वरूप है । तो दूसरे शेर में वे मौत को भी क्षणभंगुर गिनते हुए, मौत पश्चात के विशाल फलक की आशाएं अस्तित्व में जगाते है । इस अवतार कर्म से वे माहिर ही नहीं बल्कि शायद संलग्न भी है । ऐसी अनुभूति इनके इस विधान से होती है । तीसरे अंतिम शेर में यह बनाम नवनीत खुद नवनीत प्रतीक का मंथन कर हमें हमारे श्रद्धा प्रसाद को पूर्णतम समझ लुत्फ़ लेने का, और उसे बेजा न छांडने का आदेश देते हैं ।

''तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें'' खींचते खींचते हम भी नवनीत तक तो आ ही चुके हैं । लेकिन इतनी लम्बी कथा के बाद भी हमारा कलियुगी चलन कहाँ मिटा है । सो सखेद कवि यह शेर दोहराके हमारी खुशहाली के लिए यही दुआ मांगते हैं ।

''सुना है कभी एक सतयुग भी था,
तेरे जश्न को वह, पुनः देखना है ।'' पेज. ६३

हम भी यही प्रार्थना करते है कि वैश्विक हीत के लिए कवि की यह पावन मुराद फले । और उनके तीसरे संग्रह में सतयुगी महक से हम सब तरबतर भीग जाएं । कुछ इसी तरह से..

यूँ महक फैले यहाँ पर सतयुगी मधुमास की,
नाम से नवनीत के, व्रजवास हो जाये यहाँ ।

★

३

डॉ. नवनीत भाई ठक्कर के तीसरे काव्य संग्रह "अहसास सजे अल्फ़ाज़" का अवलोकन ।

"स्याही भीगे पल" से "तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरें" खींचते-खींचते केवल दो ही साल के अंतर में "अहसास सजे अल्फ़ाज़" के चोरासी कलाम के चोरासी फेरे चित्रित करने की कामयाबी का परचम यह कवि लहराने लगे हैं । यह "स्याही भीगे पल" की तनहाइयाँ क्या-क्या रंग जमाती है । उसका विस्तार से वर्णन करने से पहले हमारे लिए अनिवार्य है, कि डॉ. नवनीतभाई ठक्कर की नवाजिश में किन्होंने कौन-से तारीफ के गुल पिरोये हैं । उसका संक्षिप्त इज़हार करना ।

जी, हाँ, पहले वाले संग्रह में द्वारिका प्रसाद सांचिहर, डॉ. प्रभात शर्मा, एवम राममूर्ति त्रिपाठी जी के प्रोत्साहक वचन कवि को प्राप्त हुए थे । इस संग्रह में उनके भीतरतम अहसास के हाथ को उज्जेन निवासी अंतर राष्ट्रीय कवि वीरेन्द्र शुक्ल जी ने थाम कर आकाशी विहार कराया है । उनकी उडानों की ओर हम गौर फरमायें । चलो, उन्हीं के "अहसास सजे अल्फ़ाज़" की जुबानी में उनके "आमुख" लेख में ही...

" 'अहसास सजे अल्फ़ाज़' में कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को निखार कर काव्य मंजिल की सीढ़ी पर खड़ा है । इसमें संकलित चोरासी कविताओं में कवि की मानसिक विफलताओं की झलक परिलक्षित होती है । इनमें सूफियाना अंदाज़ गहराई से जड़ पकड़े है । जिसके लिये सावधानी से कदम-ब-कदम चढ़ना होगा । कलाकार भटकन के साथ डर महसूस करते हुए भी आस्था की डोर मजबूती से पकड़े हुए है । वह भटकन से बिखरा नहीं है । लेकिन वह स्वयं को समेटकर अध्यात्मिक उर्जा एकत्रित कर रहा है । इस संकलन में ऐसी कईं कविताएँ हैं । जिनमें इश्क हकीकी एवम इश्क मिजाजी का हमें एहसास होता है ।"

नवनीत जी के हौसले दो संग्रह के प्रकाशन पश्चात इस कदर आसमान की ऊंचाईयों को छू गये होंगे कि उन्होंने तितली की तरह फुदकते अहसास को कविताओं के शादाब वसंती फूलों की सेज पर सजाकर ही इस तीसरे

संग्रह में अपने भीतर के अहसास समर्पित भाव से खोले हैं । उन्हींकी जुबानी सुनिएगा ।

''यह संग्रह मैं उन अहसास की क्षणों को समर्पित करता हूँ जो अल्फाज बनकर कागज़ पर उतरे और भीगो गये मुझे अंदर तक ।

''नाम लिखकर रेत पर बस इंतजार में हूँ खड़ा,
कौन जाने कब लहर मेरे गले मिल जाएगी ।''

मनचाहा काम देर से शुरू हुआ है । भागना तो पडेगा ही । कहीं इससे पहले शाम ढ़ल जाए, और मनकी मन में ही रह जाए । या तो जान अटकी रहे, या निकले तो फिर रूह भटकती रहे । मैं जानता हूँ इससे पूर्व प्रकाशित दो संग्रहों की रचनाओं ने मेरे दिल की कसक को न सिर्फ यारों ने, अपनों ने बल्कि उस्तादों ने भी महसूस और महफूज किया है । नतीजा साफ है ''अहसास सजे अल्फ़ाज़'' फुदकते ही रहें ।''

नवनीत जी जज़्बात के समंदर किनारे, अहसास भीगी रेत को कलम और स्याही में भरे तन्हा कोरे कागज़ पर कविताओं का अवतरण कर, भीतरी मौज़ों से कसके बडी कसक के साथ गले मिल रहे हैं । यह अनुभूतियां उन्होंने अपने भीतरी समंदर की तहों से उभर आतीं अनायासी लहरों को गले लगाकर ही पाईं हैं । यही तो असबाब है कि उन्होंने फनकाराना मौजूआत को अपनी ज़िंदगी में हर तरह तराशा है । उनके इस गहन भावजगत की नवाजिश में मेरा इक समंदर से बनिस्बत शेर पेश करके हम नवनीत जी के अहसासात का श्रृंगार देखेंगे ।

''समंदर का मुसाफ़िर यह असर ही लेके आएगा ।
जिगर की मौज में तूफ़ान का दरिया बहाएगा ।''

- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

उनकी ''ज़िंदगी ''शीर्षकस्थ ग़ज़ल में हम उनके ''अहसास सजे अल्फ़ाज़'' की गहरी फलसफाना लहरों में चलो खो जाएँ ।

''ज़िंदगी तू सांस भी, एहसास भी ।
तृप्त ना होती कभी, वह प्यास भी ।
तुझको लेना है न देना तर्क से,
तू अनायासी लहर, आयास भी ।

पर कटी उम्मीद में सिसकी मगर,
पंख में उडती हुई हर आस भी । पेज ५

ज़िंदगी अगर केवल सांस ही पर आधारित होती तो उसकी उम्र भी कितनी हो सकती? यह सवाल हर बाएहसास शख्स को लम्हा- लम्हा जागता होगा । अस्तित्व की जानो-रूह सांस से जियादा एहसास की ही संजीदगी से प्रज्वलित होती है । इसीको आत्मस्थ कर कवि ''ज़िंदगी'' ग़ज़ल को संग्रह की प्रवेशिका बना कर ज़िंदगी के अनासिर के मर्म खोल रहे हैं। यहां यह कवि धर्म उपदेशक नहीं, मगर जीवन के कर्म उपदेशक का किरदार निभा रहे हैं । ज़हां अमिट अतृप्ति ही जीवन को लबालब छलकाने वाला तत्व हो, हमें अनंत आस-उम्मीद की सिम्त अथक परवाज करा रही है ।

कवि ने अनेकों बार ''परकटी'' लफ्ज़ का उनकी सर्जनी में प्रयोग किया है । यह विशेष तौर पर विशेषण उन्हें यकीनन अपने ही परकटे अहसासात की बदौलत नसीब हुआ है । यहां राष्ट्रीय कवि प्रदीप के यह ''पिंजरे के पंछी रे तेरा दर्द न जाने कोई'' की सच्चाईओं से कई गुना दर्द इनकी परकटे अहसास की परवाजों में हमें महसूस होता है । लेकिन ऐसे असह्य दु:ख के दरमियां भी उनका पंथ और सफर के मुताबिक यही विश्वास रहा होगा कि'' दु:ख हो कोई सब जलते हैं पथ के दीप निगाहों में,'' उनका आत्मदीप इस कदर जलता होगा कि बाशिद्दत महरूमियों की गिरफ्त में भी उसकी मशाली लौ बेमिसाल ही जलती होगी । क्योंकि यह समाधिरत कवि मन की यानि इंद्रियों की गिरफ्त से तो कब के निकल चुके हैं । इसलिए तो यूं कह पाते हैं ।

''तुझको लेना है न देना तर्क से,
तू अनायासी लहर, आयास भी ।''

उपरोक्त शेर की भाषाशैली रम्य ध्वनिगुंज कानों में भरती है । जो अंतरतम हमें झंकृत करती है । लेना- देना को तोड,वह ''लेना है न देना'' कह कर लेन-देन के बीच जो मन के तर्क-वितर्क की जगा है । उसे बडी आसानी से खोलकर, आयास-अनायास के भेद को भी खोलने में कामियाब रहे हैं । यह भले ज़िंदगी को आयासी कोई लहर का भी हिस्सा समझते हो,

उनका हर तजर्बा अपने अहसास के अनायासी शिल्प में ही उनकी कविताओं में ढ़ला है ।

हर किसम के तत्वदर्शन की झिलमिलाहट वे आसानी से करा सकते हैं । इन्हीं खूबियों का सिलसिला ''अहसास सजे अल्फ़ाज़'' में भी संजीदगी से बरकरार रखने में वह कामियाब रहे हैं । उनके अहसासात ने अल्फाज़ को अपने ही मिजाज से सजाये हैं । कवि ने किसी अवतार पुरूष की मानिन्द जो कुछ झेला है,उसे अपने भीतर ही पडे नहीं रहने दिया । लेकिन इस ज़हाँ को विभिन्न रूप से देने के लिए हर पल मचलते रहे हैं । वास्तव के मुआमले में नकार से हकार के चित्रण और अध्यात्म के मामले में अटल अफर श्रद्धा के चित्रण को अपने मनभावन प्रतीकों में ढ़ाल कर, अपने कलाकसब की परिपूर्णता से हमें आगाह किया है । अब हमारे यह दावे को सार्थक करने वालीं उनकी रचनाओं का अभ्यास करते चलें । प्रथम चरण में कवि ने जो झेला है, जो असह्य भुगता है । उसीका निरूपण हम उन्हींके वास्तव को जडों से अनुकंपित करनेवाले शेर से करना चाहेंगे ।

''कोई दूजा है नहीं मेहनतकशी का फलसफा,
जब बहा खुद का पसीना, बीज फलता है । पेज ६९

ना बचपन,ना जवानी के आंगन में वे खेल पाएं हैं । वे सर से लेकर पांव तक मील मजदूरी का बोझ उठाए, अपने पसीने से ज़िंदगी के फलसफे को सींच रहे थे । उसीके फलस्वरूप निहायत ही पाक और पारदर्शी कविताओं का अवतरण इनके यहाँ हुआ है । जिसका हर,''एहसास सजा अल्फ़ाज़'' ब्रह्मांड के महाविद्यालय से कमतर नहीं है । वे स्वयं कवि होने के बावजूद अपनी ''अय कवि'' ग़ज़ल में बोधात्मक स्वरूप से कवि की विसंगतियों के नक्श किस अंदाज़ से किये हैं । उसपर नजरें डालें ।

''सूर्य भी अब चल रहा कुछ हादसों के संग ही,
क्यों सियाही धूप में तरते रहे हो अय कवि?''
क्या धरा है इस ज़हाँ में अब सिवा महरुमियां?
क्यों जीवन के वासते मरते रहे हो अय कवि? पेज. ४

क्यों ? प्रश्नवाची उद्गार से शुरू होती गज़ल के हर शेर की पंक्तियां चाहे निरूत्तर क्यों न हो । यह कवि उन सबका उत्तर ठीक से ही जानते हैं। वैसे कविकर्मिता क्या है? अल्फ़ाज़ के बुनियादी मानी को आश्चर्यजनक तरीके से पिरोकर पेश करने के सिवा, है भी क्या? जैसे कई बार नकार में हकार, और हकार में नकार निहित होता है । इसी तरह इनका यह क्यों? क्यों न रहकर "यूं "यानि इस तरह ही होता है । साबित कर देता है ।

उपरोक्त प्रथम शेर में सूर्य को बेमिसाल अलंकार में पिरोकर कवि उसका व्यक्तिकरण करके हादसों की चाल में ही फंस-निकलने का शब्द चित्र करते हैं । यानि कि सूर्य हादसात की वजह से अपना असली रूप अर्थात् रोशनी खोकर सियाह होकर धूप बिखेरता है । यानि दिन में भी अंधेरा कर देता है । यह मिसाल मानव को ही अभिप्रेत है । कि हमारी आफताबी ताकत की रोशनी भी ज़िंदगी के हादसों से नाचार होकर अपने हौसलों पे कालिमा ही बिछा देती है । कवि ऐसे में अन्य कवि ही से सवाल करते हैं कि ऐसी सियाह धूप में आप बेवजह किस तरफ का यूं नाकाम सफर कर रहे हैं । कवि की इस "सियाह धूप" की प्रयुक्ति को देख मुझे साउदी अरब के आज़ाद नज्म के कलमकार जनाब सलाउद्दीन "परवेज़" के संग्रह "सियाह आफताब" की याद आती है । जिनका यह काला सूरज हिन्दोस्तानी अदब के कुछ रिवायती फनकारों ने अदब के लिहाज से बेमानी कहकर खारिज करने की कोशिश की थी । बराबर उसी दौर में जब नवनीत जी ने भी यह सियाह धूप का प्रयोग किया था । मुमकिन है कि कवि को भी यही विरोध का सामना करना पडा होगा । इस स्थान पर शायद कवि यही हमसे भी कहना चाहेंगे ।

"गर बैठ पाओ तुम से भीगी बात मैं करूँ !
सूरज से पर्दा करके कहीं रात मैं करूँ ।"

शैलेश पंड्या "भीनाश" का यह तरजुमा शुदा शेर है । तो मुझे भी यह चेतावनी देने को जी करता है ।

फिर नये चांद की उम्मीद न कर ए "परवेज़"
फिर कहीं शाम से पहले तुझे ढ़लना होगा ।"

- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु"

दूसरी तरफ दूसरे शेर में वह अन्य कवि को इस नापाक बेरहम ज़हाँ के लिए जांनिसारी से रोक रहे हैं। यूं कहकर कि जब यह ज़हाँ आपके जज़्बात को समझने के बजाय आपको हर किसम की महरूमी से लाचार करता हो । तो फिर उसके लिए रगे-जां जलाके "अहसास सजे अल्फ़ाज़" रचाने का मतलब ही क्या? ज़िंदगी से लेकर अवाम और खास तौर पर खुद कवि होकर भी कवि के ही रचनाकर्म को चेतानेवाले शायर ने संत कबीर पर गुजरे आघातों को ही दूसरे स्वरूप में यकीनन झेला होगा । इसलिए ही कबीर के युग को दोहराते हुए "यकीनन" ग़ज़ल का यह शेर उन्हींकी नजर कर रहे हैं ।

असल तो ले गया लम्हा मुझे तन्हा सफर में,
निशां से, पर मिलेगा तरजुमा मेरा यकीनन ।" पेज.. २

शायर को तन्हा लम्हों का सफर ही ताउम्र रास आया है । जिस पर उनके नक्शे-कदम के निशां युग बदलते ही किसी तरजुमाकारी अर्थात् अनुवाद के रूप में मिल ही पाएंगे । जब यहाँ कबीर का जिक्र छेडा ही है तो क्यूँ न हम शायर की यह कबीराना ग़ज़ल के तार खोलें । चंद अशआर पर गौर फर्मायें ।

"बोल कभी, ना बोल कभी तू ।
ना बन खाली ढ़ोल कभी तू ।
जैसा चाहे तू जग को ही,
खुद को भी यूं तोल कभी तू ।
जीवन तो है नैमत उसकी,
ज़हर जरा ना घोल कभी तू ।
सच्चे मोती मिल जाए गर,
कर इसका भी मोल कभी तू ।
मन-मंदिर में मूरत जिसकी,
उससे पर्दा खोल कभी तू ।
आनी- जानी का यह मेला,
मस्त फकीरा डोल कभी तू ।" पेज.. १६

कबीरी दोहा की सूरत कही गई यह ग़ज़ल आठ गुरु वर्ण में पिरोई

गई है । जिसमें नाम वाचक ''ढ़ोल'' और ''मोल'' के अलावा जिन काफिया अर्थात् प्रास प्रयुक्त किये गये हैं । वे आदेश वाचक क्रियापद स्वरूप है । जैसे कि ''बोल'' ''तोल'' ''खोल'' वगैरह ।

अस्तित्व की सार्थकता की यहाँ जो-जो क्रियाओं का बोध दिया गया है । वे सब इंद्रियों के विकार को नाबूद कर, अपनी असलियत को वापस लौटाकर वैश्विक कल्याण के लिए ही साबूत होने की नसीहतें हैं ।

''बोल कभी, ना बोल कभी तू ।
ना बन खाली ढ़ोल कभी तू ।''

यहाँ मिथ्या बेमतलब के वाणीकर्म से एहतियात बरतने को कवि 'बोल कभी ना बोल कभी तू' मंत्र रट रहे हैं । इनके लिहाज से जो बोल भीतरी नाब की सच्चाई के साथ अपने ओहमकार को लेकर ही लबों पे आता है । वही तो किसीकी रूह पर आकर फलित होता है । दुर्भाग्यवश यह सादा-सीधा वाणीकर्म इंसान के लिए आजके युग में मुमकिन ही कहाँ है । इसी लिए कवि ''ना बोल'' और ''कभी'' के उद्गार को शिद्दत से दोहराते हैं । वाणी को ढ़ोल का स्वरूप दे मुझे मेरे इस शेर की तरफ ले जा रहा हैं ।

''यह सुब्हो शाम बहुत मंदिरों में पिट चुके ।
नफस के ढ़ोल बजाना अभी तो बाकी है ।''

सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति ''गुरु''

अर्थात् हम सुब्हो-शाम हमारी अंध श्रद्धा के ढ़ोल मंदिरों में पिटते रहे हैं । लेकिन सांसों के सही ढ़ोल कब बजा पाते हैं ।

इकबार यहाँ जूनागढ़ गुजरात के सूफी कवि जवाहर बक्षी के जिस्म के ढ़ोल को भी याद कर लें । वे कहते हैं ।

''मैं तो नगर का ढ़ोल हूँ पिटो मुझे ।''

''जैसा चाहे जग को भी तू ।
खुद को भी यूं तोल कभी तू ।''

अक्सर यह दोहराया गया है ।''दृष्टि ऐसी ही सृष्टि ।''यह विधान केवल दृष्टि तक सीमित है । नवनीत जी तो रूहानी कवि होने के नाते अस्तित्व का दर्शन अंतर दृष्टि से करने की हिमायत करते हैं । उनका भी

गुजराती कवि कलापी सा ही मिजाज रहा होगा । ''सौन्दर्य पाने के लिए सौन्दर्य बनना पडे ।'' यही सौन्दर्यमंत्र को दूसरे शेर में दोहराया गया है । यहां जग की खूबसूरती की चाहत में बराबर खरे उतरने के लिए कवि ''बन नहीं ''पर भीतर के तराजू से खुद को तोलने का हिसाब मांग रहे हैं ।

इंसानी वाबस्तगी वाणी–वर्तन की मीठास से और सत्कर्मों के अम्रतपान से ही टिकती है । मीरां की भक्ति का भले राणा ने विष देकर परीक्षण किया हो । हमारा तनिक भी इस तरह किसीका इम्तिहान लेनेका, या किसीकी ज़िंदगी में नफरत के ज़हर घोलने का कहाँ अधिकार है । उपरोक्त शेर कवि को हरकोई के हाथों से ज़हर पीने के बाद ही, यह परंपराएं तोडने को,उन्हें मजबूर कर रहा होगा । शेर देखियेगा ।

''जीवन तो है नैमत उसकी, ज़हर जरा ना घोल कभी तू ।''

इस मीरांई शेर के बाद यह कबीर के पूजक सूफियाना समंदर में गोताजनी करके नायाब मोती निकाल लाते हैं । जो सही मानों में ऐश्वर्य की नवाजिश के ही काबिल होते हैं । यहां मोती के प्रतीक में कवि सही ईमानदार शख्सियत की गुणवत्ता और रूतबे की ओर इशारा करते हैं । जिस युग में सच्चे इमानदार शख्स की कद्र नहीं होती । वह युग कलियुग से भी बदतर होता है । पहले कवि भीतरी तराजू से गुणवत्ता को तोलने की राय देते थे । उसीको ही दोहराते हुए वे सच्चे मोतीओं की नवाजिश कर फख्र उठाने की बात करते हैं ।

''सच्चे मोती मिल जाए गर,
कर उसका भी मोल कभी तू ।''

वैसे यहाँ रदीफ ''कभी तू ''की बंदिश लेकर कवि चले हैं । दरहकीकत उन्हें ''कभी तू'' की जगह ''सदा तू'' प्रयुक्त करना चाहिए था । लेकिन यह कवि जानते हैं कि यह दुनिया जो किसीको घडीभर भी अपनाने को तैयार नहीं है । वह अगर जागकर होंश संभाले तो भी, कितने समय तक किसीको अपना पाए । या समझ पाए । इसीलिए ही ''कभी तू'' रदीफ उनके निजी एहसास का कभी न मिटनेवाला आइना होकर यहाँ पेश आ रही है ।

पांचवां शेर हासिले–ग़ज़ल है । ज़हां कोई झूठे भक्त की पूजा का पर्दाफाश हो रहा है ।

''मन मंदिर में मूरत जिसकी उससे पर्दा खोल अभी तू ।''

दरअसल जो मन-मंदिर में बसा हुआ है । वही पर्दानशीन है । छिपा हुआ, अद्रश्यमान है । जिसके दीदार के लिए आम तो क्या नरसिंह-मीरां जैसे भक्त भी सदीओं से तरसते रहते हैं । यूं गा-गाकर ''दर्शन दो घनश्यामनाथ मोरी अखियां प्यासी रे ।'' फिरभी कहाँ वो अंतर्यामी पर्दा खोल दीदार कराते हैं? इस शेर में उससे भिन्न विरोधाभास कवि ने रचा है । कि भक्त ही उसके दर्शन के प्यासे इश्वर से पर्दा करके अपनी नाजायज अहमियत दिखाता है । यह मगुरूरी बरताव हरेक को लागू पडता है । कवि का भक्तिमंत्र जीवनभर एकलक्षित ही रहा है । उनकी दर्शनप्यास जमानेभर की आंखों में तकने से न तो मिटी है, न यह चाहते हैं इस तरह की अभिलाषा अन्य कोई दृष्टि से उनमें बिंबित हो । इनकी चाहत तो वो अगम्य के भरपूर नूरानी दीदार की है । जो सर्वाधिक सर्वोच्च है । इनका यह शेर उसकी गवाही देगा ।

''क्यों चुराऊं प्यास मैं हर आंख से?
बस मुझे तू एक ही भरपूर मिले ।'' पेज ५१

पर्दे के प्रतीक को यह कवि खूब आजमाते हैं । इक ओर भीतर का पर्दा खोल उसके पीछे लगी अहम शै को नुमायां करने का आदेश देते हैं। तो दूसरी तरफ यह भी फर्माते हैं कि कोई भी पर्दा चाहे कैसे भी हटाए, उसके पर्दानशीन तत्व का राज कहाँ हम पा सकते हैं । इससे तो बहेतर है कि हम बंद मंजरों में भी खुलकर, अपने तन्हा अस्तित्व को थामकर, अनुभूतियां करते रहें । यह ''शेर तनहा रहने दो'' ग़ज़ल का इस मफहूम का दावाई है ।

''खुल सका ना राज पर्दे को हटाया था मगर,
बंद नजरों ने कहा खुलकर कि तन्हा रहने दो ।'' पेज. १३

आखरी शेर में कवि बिन एकतारा,घुंघरू या करताल के मस्त होकर सरेआम डोल रहे हैं । यही फकीराना मस्ती के लिए तो इंसान का अवतरण हुआ है । लेकिन जीवन की इस मायाजाल में वो अवतारकर्म की आवन-जावन की परंपरा को भूलकर तमाम उम्र भोग-विलास के चक्कर में नाकाम गर्दिशें किए बेकार को घूमता रहता है । कवि ने, ''मस्त फकीरा'' कहकर

मस्त कबीरा को ही दोहराया है । अगर संजीदगी से गौर फरमाया जाए तो यह ग़ज़ल की ध्वनि हम सब को जगाने को फकीराना पुकार कर रही है । चलो यह पुकार हम शायर मीर की जुबानी सुने ।

"फकीराना आए, सदा कर चले,
मियां खुश रहो हम दुआ कर चले ।"   - मीर

यह दोहाई ग़ज़ल के मोती आस्वाद मूलक होने की वजह से मैंने इसे विस्तारित किया है । उनका फकीराना यह मिजाज कलम और स्याही का संवर्धन करने वाली सियाही से यानि कि अंधेरों की बदौलत ही रहा है । अक्सर उनकी शायरी में रोशनी से बगावत करते उनके "एहसास सजे अल्फ़ाज़" से हम रूबरू होते आए हैं । ज़िंदगी के जुल्मात ने उनकी सियाही से भरी फितरत को अंजाम दिया है । इसलिए ही जब वे शोहरत और अमीरी के बलंदतर मकामात को छूने लगे । उस दौरान भी उन्होंने बजाय आराइशें और आराम, गर्मियों की तपन, और बर्फीली ठंड को ही गले लगाया । चाहे कितने ही मौसम क्यों न बदले । इनका वही सियाहकारी मिज़ाजे-मौसम रहा है । मिसाल के तौर पर,यह शेर पेशे-खिदमत है ।

"रोशनी की आड में ज़िंदा जलीं आहें फकत,
ना सियाही से रहे महरूम, तन्हा रहने दो ।" पेज. १३

इक और ग़ज़ल "मैं जानूं ना तू जाने" में तन्हा दिलजला यह शायर, अपनी खमौश आहों को गीता के अयात स्वरूप में ढ़ालने की चाहतों से यूं परेशान है...

तिल-तिल जलना ही पडता है दिल के रोगी को तन्हा,
कौन लिखेगा ये आयातें, मैं जानूं ना तू जानें? पेज११

दिल की जलन, आहो-फुगां और उठता धुआं भी अपनी दासतान लिखवाना चाहते हैं । यह दासताँ किसी किताबी शक्ल से भी ऊपर, वे गीता के आयात स्वरूप में देखना चाहते हैं । पर यह कौन वीर कर पाएगा, उसकी मालूमात न तो दिलजले को है ना ही कुदरत के किसीभी अनासिर को । वैसे भी कवि बारबार खुदको मरीजे- इश्क कह बुलाते हैं । हर मरीज़े-इश्क की रातें इसी तरह गुजरती हैं ।

"अकेला सुबह तक तडपा मरीजे-शामे-तनहाई,
न वो आये, न चैन पाया, न मौत आई, न नींद आई ।"
- सिकंदर जायसी

जनाब सिकंदर तो मोत को भी तरसते रहे । यह शायर, ऐसी अवस्थाओं को ज़िंदगी के ग्रंथ लिखने ही झेल रहे थे । इसलिए वे इन सब तंगदिलियों से बेपरवाह रहे । उनके नजरिये से जो यहाँ जिसपर आधारित है,वह भी उसका इंतजार कब करता है । वह तो अपनी ही मरजी से अपनी मस्ती में यह लीलाएं करते जाते हैं ।

"सूरज के डूबने की भी अब राह न देखे रजनी-गंधा
कैसी होगी अब मधरातें, मैं जानूं ना तू जाने ।" पेज.११

सूरज का ओझल होना । रात का रजनी गंधा-सा खिलकर महक जाना, अनमिट सिलसिला है । जिसमें उपरोक्त शेर अजीब रद्दो-बदल लाता है । सूरज के डूबने का इंतजार न करनेवाला यह रजनीगन्धा-सा कवि का चित्त मधरात का कौन-सा रूप धरेगा, स्वयं न तो कवि जानते हैं । न तो कोई और । यही तो अस्तित्व के असली सफर के बदलते पहलु है । ज़हाँ कोई भी बंदिशों के मोहताज न हो। ना ही वह अपने भविष्य की होनी से ज्ञात हो । सूरज, रजनी गंधा और मधरात के प्रतीक संयोजन में कवि हमें ज्ञात से अज्ञात का सफर करा रहे हैं । इसी आयात का अंतिम सफर भी हम देख लें ।

"ना कुछ भी थे ठौर-ठिकाने फिरभी आन मिले हम-तुम,
अजमत की हैं ये सौगातें, मैं जानूं ना तू जाने ।" पेज ११

जैसे पहले कहा गया है, जो नहीं हैं, वहां ही सबकुछ उपलब्ध है । अगर उस अजीम परवर दिगार की इनायतें किसी पर बरस जाएँ । तो उसका मुकद्दर नायाब लाहासिल सौगातों से भर जाता है । उसके लिए महा शून्य में भी ढ़ेर सारे ठौर-ठिकाने मिल जाते हैं ।

कवि अपनी आत्मा के ठिकाने पर ही बसेरा कर रहे हैं । जिसकी फजाएं जिस्मानी न होने की वजह से, वहाँ कभी किसीको गैरियत महसूस नहीं होती । वहां एक ऐसी कशिश जगती है । जहाँ अजनबी भी खींच आकर उनका हममकीन हो जाता है । यही अध्यात्म की गहराई को उन्होंने

अपने इस शेर में खंगाला है ।

''ना समझना गैर ही सब गैर है जानिब,
आपको रूकना पडे ऐसे ठिकाने हैं ।'' पेज १०

कवि इतने बाहिस है कि हरेक शै में कुछ नयापन ढूंढ़ लाते है । जिसका इस्तेमाल वे अपने कलाम में भाषा व्याकरण जो कर पाये उससे भी परे करते हैं। कुछ अशआर-

मेरे इस नजरिये से भी शायद सहमत होंगे ।

''बोलने से बयां खुशबू होती है लेकिन,
मेरे एहसास को महसूस की आदत दे दे ।'' पेज. ८

ना ही फूल बोलता है, ना कि खुशबू । कवि का यह तसव्वुर कि ''बोलने से बयाँ होती है खुशबू ''अपनेआप में एहसास की ऊंचाईयों को छू रहा है । जब हकीकत बयां होती है । तब जमाने को तल्खियों का एहसास होता है । यह कवि जो हकबयानी ही में जिये हैं । उनको तो ऐसे बयान में खुशबू ही नजर आती होगी । ये नेमतें पाकर भी इनकी यही तमन्ना रही है कि वे उसकी तासीर सिर्फ एहसास से ही पाएं । ऐसा ही हम मानी शेर जनाब महेमूद अतहर दोहदी का पेश कर रहा हूँ ।

''तुम्हारी याद का ऐसा हुआ है मुझ पे असर,
तुम्हारा नाम लूं जबभी जुबान खुशबू दे ।''

- महेमूद अतहर दोहदी

''दाग को बेदाग-सा पाले रहा,
चांद में इतनी अभी भी खोड है । पेज १८

दागनुमा चांद के मुताल्लिक कई अशआर कहे गये हैं । कई शायरों ने उसके दाग को तारीफ के गुलों से नवाजा भी है । यहां कवि ने दाग को भी बेदाग-सा पालने वाले चांद की मिसाल में आदमी की कमजोरियों का पर्दाफाश किया है । कोई भी शख्स अपने एब या दागनुमा हरकतों का इकरार करने को कभी भी नहीं राजी होता । बजाय उसके वह उसपर पर्दा करके या तो ढ़ांक देता है । या फिर किसीभी सूरत उसे सहीह करार करवाने की कोशिशें करता है । इंसानी फितरत की इसी खोट का यहाँ बनाम चांद कवि इशारा कर रहे हैं ।

चांद की हकीकत को यूं बेधडक संजीदा तौर पर जाहिर करनेवाले शायर, वह आसमानी चांद तक ही कहाँ ठहर जाते हैं । चांद की यह दागीला हरकतें इंसानों में भी तो बेपनाह पाई जा रही हैं । उनके छलावे की भी तस्वीरें वे अपने शेर में बखूबी खींच कर हमे चौंकना करते हैं ।" ये लोग" शीर्षकस्थ ग़ज़ल में इसका इज़हार मुलाहिज़ा फरमाए ।

"चांद की तसवीर मिट्टी की बनाकर अब,
ख्वाब खाली ढ़ो रहे हैं सुनहरे ये लोग?" पेज २५

"ये लोग" भी तो मिट्टी के ही अवतार हैं । जो अपना शरीर पाकर दृष्टि इंद्रिय की नैमत से छेडखानी कर, न जाने किस तरह से प्रकृति के साथ भी छल रचाते हैं । उसका हृदयद्रावक चित्रण उपरोक्त शेर में चांद की तसवीर आंखों की बजाय मिट्टी में बनाकर स्वयं यह लोग भी एकदूजे को धोके में डाल, एकदूजे की आंख में धूल झोंक रहे हैं । ये लोग अपनी इस करनी को सुवर्ण ही मान रहे होंगे । इसी वजह से शायर ने तंजिया तौर पर उन्हें सुनहरे लोग कहा होगा । इसी ग़ज़ल के उसी गलत रहनुमाई के मानी को दोहराने वाले चंद अशआर पेशे-खिदमत हैं ।

"है कहाँ परवाज की मस्ती निगाहों में,
भीड में चुनवा रहे हैं कटघरे ये लोग?
पंख सारे कोशिशों के कर लिए गुमराह,
दे रहे हैं राह को भी मशवरे ये लोग?
क्यों रचाते जा रहे हैं मकबरे ये लोग?
हो रहे हैं ज़िंदगी से क्यों परे ये लोग?" पेज. २४

शायर अपनी फन्नी परवाज में जिन पंख का इस्तेमाल करते हैं, उनपर गौर फरमाए तो वे निगाह और कोशिश की परिंदाई रचाकर इस ग़ज़ल में पंख फडफडा रहे हैं । भले वे इन दो मिसालों के पंख की नाकामियों का इज़हार अपने शेर में करते हो । और "ये लोग" कहकर अवाम पर भी तोहमतें लगाते हो । भले यह वास्तविकता हर कोई को लागू पडती हो । लेकिन कवि ऐसी वक्रोक्ति करके अपने मकसद में कामियाब ही रहे हैं । उनके यह अशआर क्षितिज पार की परवाज कर रहे हैं । उनकी तंजिया निगाह भीड में कटघरे चुनवाते, और राह में गलत दिखावे के

मशवरे देते अवाम की सिम्त तेज़ी से बढ़ रही है ।

अंतिम शेर जो मत्ले का शेर है, वह कवि की जावेदाना यानिकि अमरत्व की अजमत को संकल्प बद्ध बरकरार रखने को ही उतर आया है। वैसे भी कवि ने अपने दौर में लाफानी सफर कर गर्दिशे - हयात की कशाकश में भी अपनेआप को स्थितप्रज्ञ रखा है । वह न तो जल के मरघट पे खाक होने के अंजाम को कुबूल फर्माते हैं । न तो मकबरे में अपनी गहरी नींद के बिस्तर बिछाने को हामी भरते हैं । इसीलिए तो शिकायतन वे यह कहते हैं ।

''क्यों रचाते जा रहे हैं मकबरे ये लोग?''

ज़िंदगी से परे होने का क्या एक ही तरीका है? मकबरे रचाते रहिए? इसी सिलसिले में एक फिल्मी शायर ने ताजमहल की तामीर पर अपना तंजिया यह शेर कहा है ।

''इक सहनशाह ने बनावा के हंसी ताजमहल,
हम गरीबों की महोब्बत का उडाया है मजाक ।''

ताजमहल चाहे विश्व के लिए नायाब यादगार रहा होगा । नवनीत जी जैसे लाखों गुरबत को ओढ़नेवालों के लिए तो शायद मजाहीया तौहीन ही माना जाएगा । मेरा भी इक-दो शेर इस सिलसिले में पेश है ।

''न आरजू न मुकद्दर की बात करनी है ।
हमें तो कब्र के पत्थर की बात करनी है ।
शबे-फिराक के बुझते हुए चरागों से,
न, सांस, जिस्म, न चादर की बात करनी है ।''

- डॉ. सतीन देसाई परवेज़ दीप्ति ''गुरु''

उपरोक्त मेरे अशआर भी नवनीत जी के ही ज़िंदगी के अंजामी एहसासात का तरजुमा ही मैं मानता । इनके यहाँ भी तमन्नाओं का या अपने सौभाग्य का लम्हा- लम्हा खून होते उन्होंने महसूस किया है । जैसे इनका हमें अधिकार ही न हो । तो आखिरत में भी हमें जिस्म, सांस और चादर के बारे में सोचने की किसी तरह की भी कोई इजाजत तक नहीं है । उफ। और क्या यही तो ज़िंदगी ने हमें दिया है ।

कब्र के पत्थर और मरघट की चिताओं से उनका चैतन्य इन्तहाई खफा है । यह अवतरण के आवन-जावन की परंपराएं आखिर कार क्यों हो रही हैं । और कब तक यूं ही चलती जाएँगी? यह निरूत्तर सवाल जो हरकोई के लिए पहेल बना हुआ है । वह कवि के बरदास्त की हद से परे होने से, उनके काफी अशआर में यह मौत, मरघट, जनाजा, कफन चिता, और कब्र के चित्र उनकी रूह में आहें भरते हैं ।

इक तगज्जुल में सजी ग़ज़ल, के अशआर जिन्होंने आखरी शेरों में तसव्वुफ़ का रूप धरा है । उनकी ओर हम बढ़ें । इससे पहले उसके दूसरे शेर की ग़ज़लियत पर दो लम्हा ठहर जाएं । तो शायद तस्कीने-जां होगी ।

अन गिनत रुसवाईयों का बोझ न खलता,
हम न भरते आह, थोडे तुम ठहर जाते । पेज.२४

रूमानियत के पारस्परिक जज़्बात इससे बहेतर इश्क में क्या हो सकते हैं । विसालो- हिज्र, यानिकि मिलन और विरह की छिपी अवस्थाओं में, रुसवाईयों की सौगातें तो अता होती ही हैं । जिनका बोझ किसी न किसीको अवश्य खलता है । लेकिन यह जज़्बात के साथ फिक्रमंदी में भी बहने वाले कवि को इसका पूरा एहतियात है कि अगर एक पात्र जल्दी न चल देता, मगर थोडा रूक जाता, और दुजा उसकी आहों की गुंज फजाओं में न लहराता, तो यकीनन, रूसवाइयां वे बरदास्त कर पातें ।

रूमानियत से ही रूहानियत का सफर अंजाम पाता है । यह बेशक है । ज़िंदगी के फलसफाना क्रांतिकारी चिंतक ओशो, रजनीश का यह मंत्र ''संभोग से समाधि ''जिन्होंने आत्मसात कर लिया है, वे निश्चित रूप से ज़िंदगी से मुतमईन हो जीते हैं ।

वैसे कवि का फकीराना एवम कबीराना अंदाज भी ऐसे कई मंत्रो की मालाएं पिरोए हुए हैं । अब हम यहाँ उनके वह मौत लक्ष्यी अशआर की जानिब हमारा नजरिया कर रहे हैं । जब खयाले-मौत आता है तो एक बात का यहाँ जिक्र आवश्यक है, कि उर्दू के शायरों ने तो अपने मुख्तलिफ अंदाज में मौत को लपेटा है । लेकिन हमारे गुजराती शायरों ने भी, खासकर

बरकत वीराणी बेफाम ने तो अपने कई मक्ते मौत के संदर्भ में किये हैं। उनका एक तरजुमाशुदा शेर पेश कर रहा हूँ।

"'बेफाम' फिरभी कितना थकना पडा हमें,
वरना सफर तो था बस, घर से कबर तलक।"
- बरकत वीराणी "बेफाम"

नवनीत जी का जर्फ उन्हें ताकब्र सफर करने देता है। इसके सुबूत में यह अशआर बाफख्र आपसे मुखातिब हैं।

"बस यही तो था असर दिल में तसव्वुर का,
मौत आती सामने तो भी न डर जाते।
दौडते लेकर चले मैयत सभी रिश्ते,
रूकते कुछ देर क्यों न, थक अगर जाते?
हम न होते खाक खुलकर चढ़ चिता पर भी,
उस ठिकाने तक भी अपने पैर पर जाते।" पेज.२४

मौत की आखिरत तो क्या ज़िंदगी का अल्प विराम भी न माननेवाले यह कवि, जो उसके बाला-ओ-बुलंद तसव्वुर की कुव्वत अपने दिल में रखते हैं। वे मौत से क्यूँ कर सहम जातें? उनका यह बेजान रिश्तेदारों के लिए जो तंजिया नजरिया रहा है। वही तो मैयत उठाकर भागते रिश्तेदारों की सरे-आम इक शेर में तौहीन कर रहा है। उम्र भर जो हम निभाते हैं, वे रिश्ते या रिश्तेदार क्या होते हैं। उनकी असली पहचान तो आखिर जनाजे के वक्त ही होती है। जो दौडे-भागे लाश की अंतिमविधि जल्दी ही कराकर रुखसत फर्माने को बेचैन रहते हैं। मौत को गले लगाने वे चिता की जगह अपनी रूह की आग पर ही जोर देते हैं। मौत का इस्तकबाल वे खुद बिन मरे मुकम्मल ज़िंदगी के साथ चलते हुए ही मरघट तक जाने की चाहतें रखते हैं। यह हरकिसी की बदकिस्मती है, कि उसे जनाजे में बांधे हुए, कफन से ढ़ांके हुए ले जाकर चिता पर खोल के जलाया जाता है। यह कवि इस तरह जल खाक होने की नियत कहाँ कुबूल फर्माते हैं। वे तो चाहते

हैं कि ज़िंदगी की शाम उन्हें सिम्ते-मौत नहीं बल्कि परिंदे की मानिन्द उनके घोंसले तक ले जाए ।

''शाम को सब लौटते हैं घोंसले की ओर,
कोई गर खींचता तो फिर हम क्यों न घर जाते ।'' पेज. २४

इसके समर्थन में एक फिल्मी गाने की चंद पंक्तियाँ पेश करने की इजाजत चाहता हूँ ।

शाम तन्हाई की है, आयेगी मंजिल कैसे,
जो मुझे राह दिखाये, वो ही तारा न रहा । वो इशारा न रहा ।

इंसान की रहनुमाई गायबाना इशारों से ही होती हैं । इसी लिए तो अभी तक हम हमारी आमदो-रफ्त या हयातो-मर्ग के राज को नहीं पा सके हैं । इसी सिलसिले में यह शायर भी खोए हुए हैं ।

''मैं आया कि कोई लाया, मुझको पता नहीं!
क्या खोया मैने पाया, मुझको पता नहीं ।
कुछ लोग कहें क्या रखा है आनी-जानी में
हूँ मैं भी कब पछताया, मुझको पता नहीं ।'' पेज..३१

''मुझको पता नहीं ''का यह उद्गार आखिर शायर को ही नहीं हम सब में झुंझलाहट पैदा करता है । लेकिन शायर आसानी से इसकी कशमकश से बाहर इसलिये आ जाते हैं । कि उन्हें इन गतिविधियों से, औरों की तरह से कुछ पाने, खोने या पछताने की तनिक भी दरकार कहाँ है । यह तो बेबाकियत से खोये हुए किसी बाबा की तरह यकीनन जानते हैं कि..

''जीवन आनी जानी माया, ये जग जोगीवाला फेरा ।''

खुदगर्ज़ी के काईल तो वही होते हैं । जो न अपनी मर्जी या मस्ती से समय को अपनी जंजीरों में बांध पाते हैं । नवनीत जी का तो होना ही सबकुछ खोने के बराबर ही रहा है । इसलिए उन्होंने किसी भी, वक्त को या शै को उनपे हावी नहीं होने दिया ।

जिस तरह सबकुछ खो देने के बाद जो खला हमारे भीतर पैदा होती है । उसकी अपनी निजी हस्ती होती है । नवनीत जी ने कुछ नज्में भी कहीं है । जो कम मात्रा में होने से एक -दो की चर्चा यहाँ लाजमी है । ''मसविदा'' नज्म की पंक्तियों की रवानी में आओ बह निकले ।

''अपनी मंजिलों को खोया खुद ही अपनी मर्ज़ी से ।
प्यार नहीं होता है सच्चा,सिर्फ पली खुदग़र्ज़ी से ।
सावन ना भिगोये पल जो बंद घडी में रहता है ।
यौवन का मतवाला, ना पैबंद छडी में रहता है ।
पायल की झनकार कभी ना मुर्दो को नचवाती है ।
घायल की फुहार कभी ना डंडो पर टिक पाती है ।
बह जाते ना अश्क कभी भी अरमानों की मर्जी से ।'' पेज. ३५

खुद अपनी मंजिलों को अर्थात् कामियाबी को अपनी ही मर्जी से ठुकराने वाले यह शायर का मिज़ाज जिगर मुरादाबादी से ही मिलता-जुलता पाया गया है । अपनी मंजिलों को यह ठोकर लगाकर चल निकलते हैं । तो जनाब जिगर अपनी एक ठोकर से जमाने को भारी पड जाते हैं । उनका यह शेर मुलाहिज़ा फरमाए ।

''क्या हुस्न ने समझा है क्या इश्क ने जाना है ।
हम खाकनशीनों की ठोकर में जमाना है ।''

- जिगर मुरादाबादी

तमाम उम्र शायर का न आम अवामी रिश्तों से लेकिन खास और फनकाराना वाबस्तगी में भी केवल खुदग़र्ज़ों से ही पाला पडा है । सो उन्हें कभीभी किसीकी सही धडकनों का सुकून नहीं मिला है । यह तासीर उनके कलाम में जलते हुए लावा की तरह उनकी रगरग से उबलके सीना चीर के बह निकलती है ।

शायर इस जज़्बाती नज्म में सावन, यौवन, पायल, घायल, से प्रास-अनुप्रासी मिसालों को पिरोकर, हमें न केवल असली होने की बरसाती और झनकाराना लीलाओं में भीगोकर झंकृत करते हैं । उनका भले ही बंद घडी,

पेबंद छडी, मुर्दे एहसास या किसी डंडे के माध्यम से नकारात्मक संयोग रहा हो । यह हमें असली जीवन की कामयाबी किस शै की कौन लीलाओं में रही हैं । उनकी ओर यह कहकर गौर । फरमाने को कहते हैं कि

''प्यार नहीं होता है सच्चा पली हुई खुद ग़र्ज़ी से ।''

यहाँ प्यार केवल व्यक्तिगत न रहकर इश्क हकीकी की ओर हमें माइल करता है । इनकी दासताने-मंजिल शायद उर्दू शायर अलम मुजफ्फरनगरी से मिलती-जुलती ही है । अलम साहब भी मंजिल के करीब खुद को पाकर ओर दूर दूर जा रहे हैं ।

''सामने मंजिल है और आहिस्ता उठते हैं कदम,
पास आकर हो रहे हैं दूर फिर मंजिल से हम ।''

- अलम मुजफ्फरनगरी

शायराना मर्जी क्या होती है? उसकी सफाई अननी ''इल्जाम'' ग़ज़ल में वे खुलकर हमें दे रहे हैं ।

''तरीके और ना होते हैं साफ मर्जी के,
लोग क्यों रूप बदलते हैं खुद छुपाने में?'' पेज १९

शायर अपनी मर्ज़ी की बादशाहत सरेआम भुगतने का फरमान करते हैं । जो हमें करना है । अगर यही हमारी फितरत है, और दुनिया को इससे कुछ नुकसान नहीं पहुँचता है । तो फिर हम वह साफ जाहिरी तौर पर देर किये बगैर बेझिझक क्यों न करें ।

''इल्जाम'' ग़ज़ल के और अशआर के इल्जामात शायर ने फलसफाना तौर पर किस तरह लगाए हैं । वे अलग-अलग नामवाचक और भाववाचक प्रतीकों से सजाए हैं । उनकी पाक दामनी से भी आइए रंग जाएँ ।

''वफा ना सिर्फ दिखाने की कोई वस्तु है,
पाक दामन को लगे देर ना सजाने में ।''

कवि का सिर्फ प्रयोजन वैसे तो वफा के लिए बेमतलब ही है । वफा भीतर के समर्पित ऐक्य भाव की ही अफर स्थिति है । वह कभी वफादार जताने के लिए अपना कर्म नहीं करते । लेकिन यहाँ कवि वक्रोक्ति में उन

लोगों को इशारा कर रहे हैं । जो बनाम वफा उस अनासिर को भी ढ़ोंग बाज़ी में जताने के हंगामें खड़े करते हैं । दूसरा मिसरा साफ आदेश देता है कि वफा की पाकदामनी अनायास, बेफिक्र अपनी सजावटें कर लेती हैं। जिसका एहसास हरकोई को घडीभर में होता है । क्योंकि वफा का रिश्ता दिल से ही नहीं आत्मा से भी है ।

इक और शेर में शमा की लौ की भी पवित्रता शायर ने अपनी आंखों की सुर्खियों में यूं भर ली है ।

''सूर्खरू आंख ही चितवन के लिए है काफी,
गलत अदा ना दिखाये, शमा जलाने में ।''

फनकार का रातों के जागरण से गहरा अतूट रिश्ता होता है । इनकी रातें जो किसीके इंतजार में बेकल हो जाती हैं । वे फनकार की आंखों की शमाएं अनबुझ जलाए रखती हैं । न तो आंखें, न ही रातें कोई दिखावे के सबब से अपना यह तप करती हैं । इस सिलसिले में मिरजा गालिब की कुछ पंक्तियाँ मेरी आंखों में शमा की तरह पिघल के बहने लगी हैं ।

''आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक ।
कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक ।
शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक ।'' - मिर्जा गालिब

हम अब यहाँ ''इल्जाम'' का इक शानदार मत्ला जो इंसानी लेनदेन की ही बेमिसाल मिसाल हमें दे रहा है, नुमायां कर रहा हूँ ।

''लगे यों देर क्यों अश्कों को आज आने में?
दरद को हर्ज़ ही क्या है, करज चुकाने में ।'' पेज १६

उपरोक्त मत्ला सवालाना अंदाज में दर्द एवम अश्क को डांट रहा है। यह हर किसीके फर्ज की वफादारी होनी चाहिये कि बुरे वक्त में किसीने इकराम कर जो कर्ज आप पे बनाया है, उसे सहीह वक्त में चुकाने से किसी कारणवश आप मुकर नहीं सकते । यही उसूलन असलियत दिल को भी लगती है । यहां दिल किसीके जज़्बात को चुकाने आंसू के जरिये ही दर्द का कर्ज अदा कर सकता है । दर्द और आंसू जैसे भाववाची तत्व के जराए

इतना अजीम फलसफाना शेर, और कौन कह पाएगा । शायर को दिली मुबारकबाद पेश कर रहा हूँ मैं ।

शायर भले ही इन अंजामों से ही गुजरे हैं। इनकी ज़िंदगी अनगिनत सवालों की ही अनबुझ पहेलियाँ होकर ही उनके आगे हर लम्हा तन्हाईयों का घेरा डाले खड़ी रही है। भले ही उनके यह कलाम कुछ सवालों के उत्तर में कहे गये हो। लेकिन हकीकत तो यही है कि इनको न कोई रिश्ता समझ पाया, ना ही वक्त। यही कारण उन्होंने 'स्याही भीगे पल' को तन्हा लम्हों की सुर्खरू लकीरों में खींचने की कोशिशें की हैं। तन्हाई एवम लम्हों के मुताल्लिक कुछ अशआर पर फिर गौर फर्माते हुए उनके अलग-से मोड पर आ ठहरें ।

''आजकल नजर का हर मोड सिसकता क्यों है?
तन्हा-तन्हा-सा सरेआम ये लगता क्यों है ।
सडक पर लोग सरक जाते हैं सांपों की तरह,
मेरे हिस्से का गुनाहगार ठहरता क्यों है ।'' पेज २१

उपरोक्त शेर में कवि अपने ''अहसास सजे अल्फ़ाज़'' के उस मोड पर आ खड़े हैं। जो सिसकता हुआ तन्हा-तन्हा महसूस होता है। यह तन्हाई और यह सिसक कवि की बेबरदास्त अनुभूतियों का ही बिंबात्मक रूप है। इक ओर तन्हाई के घेरे हैं। तो दूसरी तरफ सांप से ज़हरीले लोगों की भीड से कवि गुजर रहे हैं। जो लोग सडक पार सांप की तरह महफूज हो, गुजर भी जाते हैं। लेकिन बदकिस्मती से शायर पे जुल्म करनेवाले गुनाहगार की तादाद भी तो कम नहीं है । जो वहां पर बीच राह उनका रस्ता रोक रही है । इन सर्पिले लोग की मिसाल में शायर ने शायद मीरां से भी जियादा ज़हर पिया होगा । जिसने उन्हें ग़ज़ल का शिवाला कर दिया होगा । उनके गले मैं मेरे यह शेर की माला पहनाना चाहता हूँ ।

''ज़हर को घोलती सारी सियाही पी चुका हूँ मैं,
ग़ज़ल का मैं शिवाला हूँ, खबर तुझको कहाँ है ।''

- डॉ. सतीन देसाई ''परवेज़'' दीप्ति गुरु''

यह लोगों की बदनीयती ही उन्हें खुद खाए जा रही है। इसका हवाला भी अपने शेर में वो चुकते कहाँ है? लोगों की अमानुषी ज़हरीली हरकतें जो वक्त की ही जड़ों में ज़हर सींचती है। वे जितना इस कायनात को नुकसान पहुंचाती है उससे कई गुना वे उन्हींको भुगतने के लिए मजबूर करती हैं।

''अब वक्त-ए-फिजा की नहीं है खैर बाग में,
पौधों की जड में ज़हर मिलाते चले हैं लोग।
ऐसी ढ़ली है शाम सुबह के करीब ही,
कागज़ के आफताब बनाते चले हैं लोग।'' पेज ३२

दूसरा शेर आफताब-ए-कागज़ को सुबह- सवेरे ही उगाकर, लाचारी की कैसी नौबतें यह मानव समुदाय भुगत रहा है। उसकी नक्श-निगारी, जिद्दत से कर रहा है। शायद सवेरे का सूरज भी शाम होनेसे कईं घंटों पहले, जमाने की मनहूसियत और वहशियत न बरदास्त करने पर, ओझल होने को बेकरार होता होगा। मुझे महसूस होता है कि यह अखिल के नूरानी अनासिर चांद-सूरज भी अबके खुदकशी करने को मचलते होंगे।

''हर सुब्ह आफताब भी करता है खुदकशी, ।
हर रात माहताब भी करता है खुदकशी।''

जिस तरह नवनीत जी के गुनहगार बीच राह ठहर उनकी आमद का इंतजार करके उनपे मौका पाकर वाराना हो जाते हैं। तो यह वक्त भी अपनी वहशियत जताने में कहाँ पीछे रहता है। इक तरफ लोग यह तासीर बनाते हैं। तो दूजी ओर लम्हे भी अपनी तेज धार उनपर इस कदर चलाते हैं।

''सुना है वक्त की रफ्तार तेज़ है लेकिन,
मेरे ही वास्ते लम्हा मेरा कातिल हुआ है।'' पेज. ३०

यहाँ एक कदम दुबारा पीछे मुडकर हम जिगर मुरादाबादी के ही एहसास के नक्श नवनीत जी के नाम कहना चाहेंगे।

''आदमी के पास सबकुछ है मगर,
एक तन्हा आदमियत ही नहीं।'' **- जिगर मुरादाबादी**

आदमियत का अभाव ही मातमी मंसूबों का जन्मदाता है । यह हकीकत को बडे ही खेद के साथ शायर अपने निम्न शेर में जाहिर कर रहे हैं ।

''हम अगर आदमी हुए होते ।

मनसूबे ना मातमी हुए होते ।'' पेज. ४९

''तन्हा'' विशेषण से सजी यह भाववाची आदिमयत का कोई जवाब ही नहीं है । अगर जिगर साहब नवनीत जी के दौर में हयात होते तो निश्चित तौर पर यह शेर उनकी जुबानी ही कहलवातें । शायर का यह अजीब अंदाज़े-बयां भी देखिए ।

''सुना है भीड की आदत बनी जमाने को,

तो फिर नसीब अकेला ही टहलता नहीं है ।'' पेज २२

भीड की ही हुजूमाई आदतों से लाचार मानवी, तन्हा आदमियत को कैसे पा सकता है । उसका इलाज इंसान के जिस्म के पास शायद नहीं । लेकिन उसका नसीब जो कहीँ भी किसी भी बंदिशों की जंजीरों में कैद होनेको न पैदा हुआ है । वह तो अपनी खुदमुख्तारी से आजाद परिंदे की तरह अपने पर फडफडायेगा ही । यहां नसीब के तन्हा अकेले-टहलने के मंजर पैदा कर, जिस्म से नसीब का अलग वजूद कवि ने जो बनाया है । वही तो इनकी तन्हाईयों का कमाल है ।

नसीब को जिस्म से अलग करनेवाले यह शायर आसमां को भी सरापा बेअनासिर खाली खला कायम कर, हमें इस शेर से हैरत में डाल देते हैं । ऐसा महसूस होता है कि वे अपने ''एहसास सजे अल्फ़ाज़'' में ब्रह्मांड के ही रंगरूप को रद्दो-बदल कर रहे हैं ।

''नहीं है आग, न पानी, नहीं हवा भी वहां,

आसमां शामो-सुबह रंग बदलता क्यों है?'' पेज. २२

अगर आसमां के बदलते रंग में किसी तत्वों के नामो-निशां ही न हो! तो फिर ब्रहमांड के यह पंच तत्वों का क्या अंजाम होगा?

लम्हे-लम्हे ने ही शायर के लिए मक्तल खड़े किए हैं । लम्हे का इस तरह कातिल होना ही वक्त के लिए शरमींदगी की बात है । भले वे लम्हों को इस कदर कातिल करार करते होंगे । बचपन और जवानी का सूरज और

ना चांद का मुंह देखने वाले यह मील मजदूर ने सर से पांव तक कड़ी महेनतकशी करके ही इनके "एहसास सजे अल्फ़ाज़" के बीज उगाये हैं । जिनके फलस्वरूप ही हमें इन संग्रहों के बागे- बहार में सैर करने का मौक़ा हासिल हुआ है । उनकी ज़िंदगी की दासताँ को बयान करनेवाले शेर को आप भी पढ़िए ।

"कोई दूजा है नहीं मेहनतकशी का फलसफा,
जब बहा खुद का पसीना बीज फलता है ।
यूँ तो जुगनू का फसाना बन गया तारीख पर,
रोशनी के दाव में तन्हा मचलता है ।" पेज. ६९

उन्होंने जीवन के घने अंधेरों में जगमगाते जुगनू की मिसाल खुद ही जल-जल कर दुनिया को दी है । उनका फनकाराना नूर किसी तारीख से कम नहीं । लेकिन उन्होंने बडी तडप, और घुटन के साथ ही अपनी कुव्वत की रोशनी के दाव खेले हैं । उसीकी तासीर से इनकी रचनाओं में तन्हाई की स्याही से रंगे जमीर की जुबान बोलती है । वे भीड से हर लम्हा किनारा कर अपनी सर्जनी में बेफिक्र परवाज करते रहे हैं ।

"नीड से निस्बत नहीं परवाज को,
पंख सारे आसमां के नाम कर दे ।" पेज. ७१

कौन-सा इंसान जीते जी अपना कुछ भी आसमान के नाम करता है। मकान से लेकर अपना सफर खाक में ही करता है । वह हींमत नहीं जता पाता अपनी रूह का हक अदा करने की । इसी वजह से उसकी रूह आखिर उसे खाक कर आकाश में उडा ले जाती है । सब कुछ आकाश के नाम कर देती है । जबकि आत्म जाग्रति के यह शायर अपने तखय्युल से लेकर तसव्वुफ़ तक के पंख आकाश के नामकर उसका हक अदा करते हैं। फकीराना वेश या वरताव ही नहीं फकीराना जमीरो-रूह की कायनात के मालिक ने खस्ताहाली में भी, फटे-पुराने लिबास को लपेट अपनी फकीरी की मस्तियाँ लूंटी हैं । जिनपे मजाक करनेवाला यह जमाना उनका यह फलसफा कब समझ पाता । इसके समर्थन को तीन तरजुमाशुदा पंक्तियाँ,

डॉ. अशोक पटेल की इस लिहाज से पेश कर रहा हूँ ।

''क्यूँ देखता है छेद?
फकीर का लिबास है, देख ताने-बाने ।''

कबीरी फलसफा तो छेदनुमा लिबास के मुकम्मल ताने-बाने में ही प्रगट होता है । कहा गया है कि हम वही देखते हैं, जो न देखने के लिए बना है । सो हमें छेद में छिपा वह ओलिया कहाँ नजर आता है । इक बार फिरसे हम शायर की वही कबीरी चेतना की बुनाई पर लौट आए ।

''यों टूटा कसकर हमारा तार लो ।
गूंज हीन यों ही बीता अवतार लो ।
कर गया सागर मजे से पार, पर,
बूँद में फँसता गया विस्तार लो ।'' पेज.२८

कबीर की चरखा बुनाई तो वस्त्र तक सीमित रही । यहां शायर का आत्मिय तार मीरां के एकतारे के तार की झंकार चाहता था । बदकिस्मती से वह उन्हें लाख करने पर भी हासिल न हुआ । उन्होंने तमाम इंद्रियों के तार को कसकर रूहानी ध्वनि पैदा करने की जब कोशिशें कीं । उसी वक्त वे तार गूंज हीन टूट गये ।

बेमतलब के जीवन सागर के मर्म को वे दूसरे शेर में जिस गहराई से उभार लाते हैं । वह वाकई हासिले-दीवान शेर पैदा करता है । शायद यहीं पर हम उनकी तत्व दर्शनी जिसे हम ''नवनीत का संजीदा मंथन'' करार करते हैं, उसके मंथन की पूर्णाहूति करते । लेकिन कई ऐसे ही समांतर तत्व को खोलना अभी बाकी है । सो सफर जारी रहेगा । शेर फिरसे मुलाहिज़ा फरमायें ।

''कर गया सागर मज़े से पार, पर, बूँद में फँसता गया विस्तार लो ।''

इक बूंद की वैसे हैसियत ही क्या है । लेकिन अति सूक्ष्म का विराटत्व पाना ही तो इक सफल खोजी की खोज है । जिसमें शायर कामियाब रहे हैं । जब दुनिया को लगे कि उसने यह अपार दरिया पार कर बहुत बडी सिद्धियां हासिल की है । उसे यह इल्म नहीं कि वह किसी छोटी-सी बूँद

की जाल में ही फंसता जा रहा है । इस अंधेपन को मेरा यह शेर मुबारक हो ।

''सूरज भी अंधा हो के जो टकराए रात से,
जुगनू की उसको रोशनी दे दे मेरे खुदा ।''

आफताब और जुगनू की रोशनी का भेद तो वही जाने जो अंधेरों में सफर कर अपनी लाफानी मंजिलों को तय करता हो । अंधेरों का यह मुसाफ़िर भी उसी सिम्त चल पडे हैं । ज़हां के अछूते मंजर इनकी दृष्टि ही नहीं इनकी चेतना को श्रृंगारित करने बेताब हो ।

जब हम उनकी सर्जनी के नजरिये का तवील सफर कर यहाँ तक आ पहुंचे हैं । तो यह बताना भी जरूरी है कि ''एहसास सजे अल्फ़ाज़'' की अस्सी से जियादा रचनाओं का केवल हम घूंटभर ही रसपान करा सकते हैं। यहां से हमारी प्यास उनकी ज़िंदगी के रहन-सहन और फलसफा को समझने को अधूरी ही हम रख पाएंगे । लेकिन कुछ चंद ऐसे अशआर जो हमने आखिरकार आपके लिए चुने हैं । जो शायर की सबसे हटके पाई गई मिजाजी की मिसाल देकर,शायर की अजमत का हमें भी फर्ख उठाने को बेदार कर रहे हैं ।

''यूं तो गंगाजल कभी नापाक दिल धोता नहीं!
पंक-जल में जो कंवल उगा सदा पल जाएगा । पेज.. ३९
क्यों दहकती आंख, होते ही सहर,
नैन के स्वर शबनमी हुए होते। पेज. ४९

उपरोक्त दो अशआर जल स्वरूप के भिन्न-भिन्न मानी को खोल रहे हैं । शायर की सोच का विस्तार अपार होने से ही, ऐसे शेर मुख्तलिफ पारिभाषित होते हैं । सारी उम्र मज़हबी कायदों से उनकी सरेआम बगावत रही है । गंगाजल हिन्दुत्व के लिए मोक्षजल माना जाता है । उसके स्नान एवम आचमन से पाप से मुक्ति और अमरत्व की गतियां हासिल होती है। यह धार्मिक मान्यताएं अनादिकाल से चल रही हैं । इन मान्यताओं का खंडन ही नहीं शायर कीचड में खिलने वाले कंवल को ही पवित्र मान, मन-मंदिर

में बसे आत्मा के श्रंगार का हकदार ठहराता है । दूसरे शेर में गंगाजल और पंक-जल के विस्तार को समटे वे सीधे शबनमी तत्व पर आ जाते हैं । यह कह कर कि, ''नैन के स्वर शबनमी हुए होते!''

भाषावैभव, व्याकरण और अलंकरण के मामले में ग़ज़लियत को शायर ने जो अता किया है । वह शायद ही लम्बे अरसे तक और कोई दे पाएगा । ''नैन के स्वर'' की प्रयुक्ति में जो इंद्रिय व्यत्यय शायर ने पैदा किया है । वह हमारी दृष्टि को झंकृत करता है । नैन यानि दृष्टि इंद्रिय में स्वर यानि वाणी इंद्रिय का रूपांतरण करना, वे करामतें हैं । जो अध्यात्म को छू जाती हैं ।

यह खुद्दार शायर हरेक लम्हा अपनी दरिया दिली से बेआस जीते हुए केवल खुद ही को बांटते चले हैं । फनकार के लिए तन्हाई या तन्हा होना ही केवल काफी नहीं होता! आत्म विरक्ति भी अपने चरम पर होनी चाहिए। उसका समर्थन देता हुआ यह शेर पेशे खिदमत है ।

''शान दिखलाते दिल-ए- दरिया नवाबी की,
समशान में ढूंढ़े कफन भी अधजले ये लोग ।'' पेज..४२
ज़िंदों की मुर्दा ख़्वाहिशों के बारे में काफी
कहा गया है । लेकिन यहाँ मुर्दों की भी मुर्दा

ख़्वाहिशों का जो मंजर कफन की हवस में खड़ा किया गया है । वह इंसानी आलम में जानवर से भी जियादा कलंकित है । मरने पर भी इंद्रियों की हवस अगर नहीं मिटती तो फिर,यह मौत, समशान कफन और चिता को हम क्या समझें? इसकी बुनियादी समझ हम इनके इस शेर से अगर पा ले तो यह भवसागर हम पार कर पाएंगे । और हमारा बेडा भी पार होगा ।

पहले शेर पढ़ लें । फिर गहराई में जाएं ।

''कब पहचानी खुशबू तूने? आया तब अनजाना था ।
आनी-जानी का यह मेला, पथ, राहों से इतना पा ।'' पेज.४३

इस अंतिम चरण में भी हमें वे कबीरी दोहाई के मंत्र से ही आगाह कर रहे हैं । आठ गुरू वर्ण के ये अशआर अस्तित्व को भीतर से खोल

हमारे सामने ला रहे हैं । इन्सां अवतार समय तो अस्तित्व की बहाराना खुशबूओं को पहचान नहीं पाता । क्योंकि उसकी इंद्रियां खुली नहीं होतीं । परंतु मरते दम तक यही फितरत का वह गुलाम रहता है । इसी लिए ही चिता पर भी अधजली अवस्थाओं में अपने कफन का वह अधिकार मांगता है । वह मरने के बाद भी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होता, कि खाक का बना खाकी बदन फानी होने को ही मिट्टी को सुपुर्द किया जा रहा है । इंसानी औकात उसकी किसी किसम की अजमत से भी हवसखोरी की वजह ही से कोडी की ही हो जाती है । यह सरासर हकीकत तो है । लेकिन कवि का नजरिया तो उसके बुलंद स्वरूप से भी इंकार करता है । अगर वह अपने अस्तित्व की सही पहचान नहीं कर पाता है । कि सबकुछ होने के बावजूद भी वह शून्य का ही अंश है । उसे अपनेआप को शून्य ही करार करके जीना चाहिए । शेर देखियेगा ।

''बूँद मिटी तो बने हो मोती तुम,
खुद के पास ना तुम्हारा अपना है । पेज. ८४

कवि की दासताने-शायरी में जो सबसे अहम पहलू रहा है । वह इंद्रियों का विकार, यानि हवस की गुलामी के शिकार रही यह मानव जात। जिनमें से कुछ लोग संत और संन्यासी होने के गलत दावाई है । उनसे वे अपनी आंखे फाड, मर्दाना गरज में संन्यासी का सही मतलब निम्न शेर में समझाते हैं ।

''सो सकेगा चांद नंगा चांदनी संग बेहवस,
तब कहेगा भोग खुलकर है यही संन्यास ही ।'' पेज. ३६

संन्यासी की अवस्था एवम गति क्या होती है । उसका अध्याय रचने वाले शायर में अगर जुनून -ए- इश्क रहा है तो केवल उस शायरी से जिसके पहलूओं को फ़रिश्ते भी पा नहीं सके हैं । यही सबब वे,रूमानी, रूहानी, कबीराना, फकीराना, सूफियाना, जमीराना, हर किसम की बेखुद मस्तियों के साथ एकरंगी होकर ही ताउम्र हवादिसों में भी अपनी शायराना शमाएं जलाएं, रोशन रहे हैं । कभी किसी के आगे झुके नहीं हैं । या कभी

किसी दौर में पीछे हटे नहीं है । इसी लिए गालिबाना अंदाज़ में यह शेर हमारी खिदमत में हमारे हौसला बुलंदी के लिए रखते हैं ।

''सुना है जोर नहीं इश्क पर फ़रिश्तों का,
इसी मिजाज को सदमे बदल सके कैसे । पेज. ६२

''नवनीत का संजीदा मंथन'' हर वक्त में, हर दौर में, यूं ही लगातार होता ही रहेगा । शायरी की नस्लें इस विधा से कभी महरूम रहना नहीं चाहेंगी । क्योंकि इनके मंथन से केवल अम्रत का ही कुंभ निकलेगा ।

यह हकीकत के दावादार खुद उन्हीं की नस्ल में पैदा हुए डॉ. गुरूदत्त कि जो तबीब होने के साथ अपने पिताजी की अदबी विरासत संभाले हुए हैं । उनकी इक तरजुमाशुदा ग़ज़ल, जो मुझे वोट्स एप पर मिलते ही मैंने आकारित की है । आपको पेश कर रहा हूँ ।

तरजुमाशुदा ''ग़ज़ल''

नित्य दुनिया चित्त को घूमायेगी ।
हर घडी होती ये घटना, कब नई?
सोचे कब स्थल या घडी, जाए बरस,
हैं अजब ये मुश्किलें जो चश्म की ।
कागज़ी तश्नालबी मांगे कलम,
बोल कैसे रोके कवि दीवानगी?
अश्कबारी फूल ने की रातभर,
सूर्य सहलाने गया उसको खफी ।
जो मिले सूरमा तुझे ऐसा कहीं,
आंख भर लो बुद्ध की वो नाजुकी ।
बस सदा बहते चलो, झरते चलो,
जी ही लो झरने-सी अपनी ज़िंदगी ।

- गुरूदत्त ठक्कर

आखिर यहाँ पर विरामित होने से पहले यह खेद जरूर रहेगा कि इनकी दो कविताओं की किताबें ''अश्क ब-नाम अंगारे'' और ''चिलमनी

यादों के महरूमी साये" दोनों सारे आलम में उपलब्ध नहीं हैं । वहां तक की इनके दोनों बेटे डॉ. गुरुदत्त एवम नीरव जी के निवास पर भी । इसी कारण हमें इनके उपलब्ध संग्रह की नैमतों से ही संतुष्ट होना पडा हैं ।

इसे अवलोकन कहो या रसदर्शन जो भी कहो, उसमें मैं कितना खरा उतरा हूँ । वह तो नवनीत जी की आत्मा ही जाने । पर मैं तो इतना ही नवनीत जी से कहना चाहूँगा कि "तारीखे- अदब में अगर कहीं भी मेरा जरा-सा भी जिक्र होगा ! वह केवल और केवल आपके साहित्य पर यह मेरी कलम आजमाई से ही होगा ।"

मुझे यह ग्रंथ रचने के काबिल समझ, मुझ पर एतबार करके जिन्होंने मुझे इजाजत दी है, वे डॉ. गुरुदत्त और नीरव ठक्कर का मैं तहे-दिल से शुक्रगुजार हूँ ।

- डॉ. सतीन देसाई "परवेज़" दीप्ति "गुरु"

ए/३, अभिलाषा फ्लैट,
पारिजात सोसायटी के पास, पालडी,
अहमदाबाद - 380 007
(M) 9428907775

डॉ. सतीन देसाई 'परवेज़' दीप्ति 'गुरु'

नाम : सतीन नीरुभाई देसाई
जन्मतारीख : 4-4-1950
जन्म-स्थल : दाहोद
अभ्यास : एम.बी.बी.एस., गोल्ड मेडलीस्ट
व्यवसाय : मेडिकल प्रैक्टिस
पता : ए/3, अभिलाषा फ्लैट, पालडी, अहमदाबाद-380007
(M) 9428907775

साहित्यिक उपलब्धियाँ :

(1) गुजराती में पांच हजार ग़ज़ल
(2) हिन्दी-उर्दू में दो हजार ग़ज़ल
(3) दो हजार गुजराती ग़ज़ल का उर्दू अनुवाद

गुजराती किताबें :

ग़ज़ल संग्रह

(1) मुखोमुख (2) जलकमलवत् माँ
(3) मोहनथी मोहन सुधी (4) प्रेमायन भक्ति संग्रह

कहानी :

(1) रूणानुबंध

आत्मकथा :

1) पश्चातापना हस्ताक्षर (2)कारावास

गुजराती ग़ज़ल के उर्दू अनुवाद की किताब

(1) नायाब नगीने (2) शबनमी गुफ़्तगू (3) शबनमी आफ़ताब

विशेषांक : कुल दस :

(1) दो मातृ ग़ज़ल विशेषांक ''तादर्थ्य'' और ''धबक'' पत्रिका
(2) चार ग़ज़ल अनुवाद विशेषांक :
दो ''तादर्थ्य'', एक ''धबक'', एक ''कवि'' पत्रिका
(3) तासिलोक पत्रिका ''गुजरात के अजीम शायर''

(4) साहित्य विथिका पत्रिका ''सतीन देसाई परवेज़''
(5) तादर्थ्य पत्रिका से राजेन्द्र शुक्ल अवलोकन
(6) धबक से प्रताप सिंह डाभी ''हाकल'' अवलोकन

हिन्दी ग़ज़ल संग्रह :

(1) तो मैं मैं न था वहां (2) कबीरी तार (3) लाफानी रक्स

संमान :

(1) ''मुखोमुख'' ग़ज़ल संग्रह गुजरात साहित्य अकादमी
(2) ''तो मैं मैं न था वहां'' हिन्दी साहित्य अकादमी प्रथम पुरस्कार
(3) ''शबनमी गुफ़्तगू'' हिन्दी अनुवाद हिन्दी साहित्य अकादमी प्रथम पुरस्कार
(4) तास्रिलोक ''गुजरात के अजीम शायर''
(5) माँ हरिश्वरी देवी संस्थान केन्द्र ''वरिष्ठ ग़ज़लकार''
(6) साहित्य लोक वाग्देवी तथा अलंकार
(7) मुंबई साहित्य अकादमी ''साहित्य रत्न''
(8) राष्ट्रीय संस्थान केन्द्र दिल्ली ''सर्वोच्च साहित्यकार''
(9) पंकज कुमार गोस्वामी ''कलानिधान''
(10) कुमार फाउन्डेशन ''कलाश्री''
(11) पू मोरारी बापू ''आधुनिक श्रवण''
(12) शेठ गिरधर लाल संस्कार केन्द्र ''निष्ठा''
(13) वांचे गुजरात ''सारस्वत गौरव''
(14) शब्दसेतु ''व्यक्ति विशेष''
(15) तादर्थ्य एवं कविलोक ''श्रेष्ठ कवि''

विशेष उपलब्धि :

तीन छात्र मेरी हिन्दी ग़ज़ल पर एम फील कर चुके हैं

प्रस्तुति :

आकाशवाणी ,दूरदर्शन, फिल्म्स, देशविदेश, निर्माता ''सूर समन्वय'' तथा ''प्रबीर फाउन्डेशन''

अखबारी कोलम :

तोफानी तांडव, राजलेखन, गुजरात टुडे, न्यूज़ ऑफ गांधीनगर, सौराष्ट्र भूमि, जय हिंद ।

• • •

डॉ. नवनीत आर. ठक्कर

जन्म तारीख : 29-02-1940

जन्म स्थल: देथली, जि. खेडा, गुजरात,

पता: 5, 'मंगलमूर्ति', मोतीनगर, महालक्ष्मी चार रास्ता,
पालडी, अहमदाबाद - 380007

(M) 9898679494 (म) +919328049510

प्रकाशन :

शोधसमीक्षा (हिन्दी): हिन्दी के जीवनीपरक उपन्यास खण्ड 1-2 (1990). रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास (1990) ● अमृतलाल नागर के जीवनीपरक उपन्यास (1990) ● वृन्दावनलाल वर्मा के जीवनीपरक उपन्यास (1990).

काव्यसंग्रह (हिन्दी): स्याही भीगे पल (1994) ● तनहा लमहों की सुर्खरू लकीरें (1996) ● अहसास सजे अल्फाज़ (1998) ● चिलमनी यादों के महरूमी साये (2000).

गुज.से.हि.में अनुवाद : ● एक और कुरुक्षेत्र : उपन्यास 2000 (मू.ले.चन्द्रकान्त ठक्कर) ● एक्शन रिप्ले : आत्मकथा 2001 (मू.ले.तारक महेता) ● विनोद नामा : आत्मकथा 2002 (मू.ले. विनोद भट्ट) ● विनोद मेला : हास्य-व्यंग्य 2002 (मू.ले. विनोद भट्ट) ● कुंती : उपन्यास 2003 (मू.ले.रजनीकुमार पंड्या) ● प्रभात के पुष्प : उपन्यास 2003 (वजु कोटक के चिंतनात्मक : लेख) ● हम और पश्चिम : उपन्यास 2003 (स्वामी सच्चिदानंद का प्रवास वर्णन) ● सिंहपुरुष सरदार पटेल, शोध-ग्रंथ 2005 (डॉ. रिजवान कादरी) ● गुलारा बेगम : उपन्यास 2004 (डॉ.शरद पगारे), ● उड़ान की बाँहों में आसमाँ : उपन्यास 2003
(बैजन दारुवाला की अंग्रेजी कविताओं का हिन्दी अनुवाद).

पुरस्कार सम्मान :

- हिन्दी गरिमा, शांति-साधना पुरस्कार, 1994, 2000 (गुजरात हिन्दी विद्यापीठ)
- तनहा लमों की सूर्खरू लकीरें काव्य-संग्रह के लिए पुरस्कार, 1997 (गुजरात हिन्दी साहित्य अकादमी)
- कुसुम हिन्दी साधक समान के अन्तर्गत शोध-समीक्षा पुरस्कार, 1998 (अंतरराष्ट्रीय कला एवं संस्कृति परिषद, नजीबाबाद (उ.प्र.)
- दिल्ली की ओर से काव्य संग्रह 'चिलमनी यादों के महरूमी साये' के लिए वर्ष 2000-2001 का हिन्दीतर लेखकों को दिया जाता रू50,000/-का पुरस्कार। (केन्द्रिय हिन्दी निदेशालय).
- गुजरात हिन्दी साहित्य अकादमी की ओर से वर्ष 2000 का अनुवाद विधा का पुरस्कार 'एक और कुरुक्षेत्र के लिए
- हिन्दी साहित्य परिषद द्वारा आयोजित कहानी स्पर्धा में प्रथम पुरस्कार का रजत पदक - 2003.